भाग-१

आदर्शों की बलिवेदी पर जीवन पुष्प चढ़ाना सीखें






-श्रीराम शर्मा आचार्य

आदर्शों की बलिवेदी पर जीवन पुष्प चढ़ाना सीखें

(भाग-१)



लेखक

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य



प्रकाशक

युग निर्माण योजना

गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

फोन (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो० ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स (०५६५) २५३०२००



पुनरावृत्ति सन् २०११ मूल्य १५.०० रुपये

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना,
गायत्री तपोभूमि, मथुरा

लेखक :
पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

मुद्रक :
युग निर्माण प्रेस, मथुरा

यह संकलन !

अपनी संस्कृति में मनुष्य के दीर्घायुष्य की कामना करने का विधान है । दीर्घायुष्य की यह कामना किसलिए ? क्या केवल इसलिए कि मनुष्य सारा जीवन सांसारिक सुखोपभोग करता रहे और एक दिन राम नाम सत्य हो जाय ? नहीं, कदापि नहीं । भारतीय संस्कृति की आधारशिला भोगवाद नहीं अपितु कर्मवाद है । त्याग, तप, लोक संग्रह और लोक मंगल इस आधारशिला के चार सुदृढ़ स्तम्भ हैं । मनुष्य इस धरती का दोहन करने नहीं वरन् इसे जीवन के उच्चतम मूल्यों से सुसज्जित करने, सुषमामय बनाने के लिए जन्मा है । ऐसा मूल्य समन्वित, त्याग-तप-लोक संग्रह और लोक मंगल प्रेरित कर्मनिष्ठ जीवन मनुष्य जिए-दीर्घायुष्य की कामना में अन्तर्निहित यही भावना है ।

आयु का विस्तार दीर्घ हो अथवा अल्प, काम्य दीर्घता अथवा अल्पता नहीं है, काम्य जीवन की सार्थकता है । जीवन की सार्थकता की उपलब्धि यदि मृत्यु के शीघ्र वरण से होती है तो वही वरणीय है । ऐसा ही जीवन स्पृहणीय है, अनुकरणीय है, श्लाघनीय है । वह जीवन नहीं जो दीर्घ होते हुए भी केवल पृथ्वी का भार बना हुआ है, जिसके बोझ से धरती माता धँसी-पिसी जा रही है । इसी सत्य का बोध कराने और केवल बोध ही नहीं अपितु जीवन में उसे उतारने, तदनुरूप जीवन ढालने के लिए ही इस संकलन में ऐसे महावीरों के जीवन की झाँकी दिखलाई गई है जिनको अपने अंक से लगाकर मृत्यु भी धन्य हो गई ।

प्रकाशकीय वक्तव्य

वेदमूर्ति, तपोनिष्ठ परम् पूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य ने विपुल साहित्य की रचना की है। अन्तर्राष्ट्रीय, राष्ट्रीय, सामाजिक, वैयक्तिक, धार्मिक-आध्यात्मिक आदि प्रायः सभी मानवोपयोगी विषयों के कूलों-उपकूलों को स्पर्श करती हुई उनकी उपासना, साधना और आराधना की त्रिवेणी अखण्ड ज्योति (मासिक) युग निर्माण योजना (मासिक) और प्रज्ञा अभियान (पाक्षिक) के माध्यम से भी प्रवाहित हुई है। परम पूज्य गुरुदेव के इन लेखों में गंगा का पावित्र्य, यमुना की भाव प्रवणता एवं सरस्वती का ज्ञान-गाम्भीर्य भरा हुआ है।

महाप्रयाण के पूर्व उनकी निखिल ब्रह्माण्ड व्यापी करुणा ने हम सबको यह आश्वासन दिया था कि नश्वर शरीर के पंच-महाभूतों में विलीन होने के उपरान्त भी वे सूक्ष्म रूप से हमारे साथ रहते हुए हमारा मार्गदर्शन करते रहेंगे। उनके द्वारा रचित साहित्य में व्यक्त विचारों में हमें उनके उसी सूक्ष्म रूप के दर्शन होते हैं। अतः उन विचारों को सत्साहित्य के माध्यम से जन-जन तक पहुँचाना प्रज्ञा परिवार के प्रत्येक सदस्य का पुनीत कर्तव्य हो जाता है। नव साहित्य शृंखला प्रकाशन की संक्षेप में यही हमारी पृष्ठभूमि है, प्रेरणा है।

प्रस्तुत शृंखला में हम केवल युग निर्माण योजना की पुरानी फाइलों से पुरुषार्थ परायण महापुरुषों एवं सन्नारियों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर आधारित संक्षिप्त जीवन परिचय, लघु कथाओं, प्रेरक प्रसंगों एवं घटनाओं, सामान्य से सामान्य जनों द्वारा किए गये असामान्य प्रेरक एवं शिक्षाप्रद कार्य तथा जीवनके विभिन्न

आयामों को प्रभावित एवं प्रेरित करने वाले विविध विषयों पर लिखे दिशादर्शक, उद्‌बोधक लेखों को छोटी-छोटी पुस्तकों के रूप में प्रकाशित कर रहे हैं । छोटी पुस्तकों (ट्रैक्ट) के रूप में प्रकाशित करने का हमारा उद्देश्य मात्र इतना ही है कि अधिक से अधिक लोग अपनी-अपनी रुचि और सामर्थ्य के अनुसार इन्हें खरीदकर स्वयं पढ़ सकें, परिवार के सदस्यों को पढ़ा सकें और ब्रह्मभोज में सहभागी होकर निःशुल्क वितरण कर ज्ञानदान का पुण्य परमार्थ भी अर्जित कर सकें ।

अब तो देश-विदेश में आश्वमेधिक यज्ञ शृंखलायें चल पड़ी हैं । कितने ही अश्वमेध यज्ञ हो चुके हैं और अभी न जाने कितने और होंगे । इन यज्ञों द्वारा लोगों में ज्ञान क्षुधा जाग्रत हुई है । यदि हमने क्षुधा जाग्रत की है तो उस क्षुधा को शान्त करने और निरन्तर बनाये रखने की सामग्री भी हमें ही देनी पड़ेगी, यह हमारा पुनीत कर्तव्य हो जाता है । हम इस नई शृंखला को अपने इसी कर्तव्य भाव से आपको भेंट कर रहे हैं ।

इस शृंखला की पुस्तकों को पढ़ते समय एक बात और ध्यान में रखनी पड़ेगी । परम पूज्य गुरुदेव ने जो कुछ लिखा है उसे हम उसी रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं । इनमें हमने मात्र मुद्रण सम्बन्धी भूलों का सुधार किया है । अनेक जीवन परिचय एवं विविध विषयों पर लिखे लेख काल क्रमानुसार संशोधन एवं परिवर्धन की अपेक्षा रखते हैं । अनेक महापुरुषों एवं सन्नारियों का जीवन परिचय अनुपलब्ध होने के कारण हम उन्हें सम्मिलित नहीं कर पाये हैं । हमारे विज्ञ, सहृदय एवं मानवता प्रेमी पाठक भारत की प्राचीन ऋषि परम्परा को अपनाते हुए आवश्यक एवं अपेक्षित संशोधन, परिवर्द्धन एवं परिचयात्मक लेख प. पू. गुरुदेव के श्रीचरणों में अर्पण हेतु भेज सकते हैं । यदि गुरु प्रेरणा हुई तो उन्हें हम अगले संस्करण में यथायोग्य स्थान देने का प्रयास करेंगे ।

जहाँ तक भाषा-शैली का प्रश्न है वह प. पू. गुरुदेव के महान व्यक्तित्व के अनुरूप ही है । उसमें सहजता, सुबोधता, सरलता और एक प्रकार की अन्तरंगता है । जो कुछ उन्होंने कहा है, लिखा है, वह उनके अन्तर्मन की अभिव्यक्ति है । उसमें बनाव-शृंगार, दुराव-छिपाव का अभाव है । भाषा उनके सामने वैसी ही लाचार नजर आती है जैसी कबीर के सम्मुख थी । जो कुछ वे उससे कहलवाना चाहते हैं, उसे वैसा ही कहना पड़ा है । उन्होंने उसके लिए न नुकर की कोई गुञ्जाइश नहीं छोड़ी है ।

ऊपर गुरु प्रेरणा की बात आई है तो एक विशिष्ट प्रसंग का उल्लेख कर देना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य प्रतीत होता है । कुछ समय पूर्व की घटना है । अभी चरण पादुका पूजन कर ही रहा था कि क्षण भर के लिए समाधि लग गई । गुरु वाणी सुनाई पड़ी-"मुझे घर-घर पहुँचाओ ।" प्रश्न हुआ-"कैसे ?" उत्तर मिला-"ब्रह्मभोज करो, ज्ञान यज्ञ करो ।" समाधि भंग हुई । अन्त.करण अपूर्व एवं दिव्य आनन्दानुभूति से भर उठा था । जीवन के इस अन्तिम चरण को सार्थक करने की राह मिल गई थी । मन इस गुरु आदेश को पूर्ण करने, उसके प्रति पूर्ण समर्पित हो जाने का संकल्प कर चुका था ।

इस नितान्त व्यक्तिगत एवं गोपनीय अन्तरंग अनुभूति को प्रकट करने का आशय इतना ही है कि प्रज्ञा परिवार के समस्त आत्मीय सत्साहित्य के प्रचार-प्रसार में प्राण-पण से जुट सकें और गुरु आदेश के पालन का आध्यात्मिक लाभ उन्हें भी मिल सके । ज्ञान प्राप्त करना और ज्ञान देना ही ब्राह्मणत्व का सर्व प्रमुख लक्षण है । वह ब्राह्मण ही क्या जिसमें ज्ञान क्षुधा न हो । इस ज्ञान क्षुधा को शान्त करते रहने के लिए उपयुक्त सत् साहित्य प्रदान करते रहना ही ब्रह्मभोज है । सबके अन्तःकरण के ब्राह्मणत्व को जगाना और उसे उपयुक्त खाद्य सामग्री सुलभ कराते रहना नवयुग के निर्माण की प्रमुख आवश्यकता है । वह

यदि हम कर सके और इस प्रकार नित्य ज्ञान यज्ञ अर्थात् ज्ञान का प्रसार-प्रचार करने में कुछ समय लगाते रहे तो निश्चय ही न केवल युग निर्माण में हमारी भूमिका सही दिशा में संचालित होती रहेगी वरन् आध्यात्मिक लाभ का भी परिपूर्ण सुयोग प्राप्त होता रहेगा ।

इस नई श्रृंखला को प्रकाशित करने में अपने अनेक बन्धुओं-कार्यकर्त्ताओं का अमूल्य सहयोग हमें प्राप्त हुआ है । हम उनके अत्यन्त आभारी हैं । परम् पूज्य गुरुदेव की करुणा के वे सच्चे अधिकारी हैं ।

अन्त में बस इतना ही कहना चाहूँगा कि जो कुछ है सब उनका (श्री गुरु चरणों का) ही है, उनके लिए ही है और उन्हीं के द्वारा हो रहा है और होते रहना है । अपनी स्थिति तो विद्युत चालित यंत्र जैसी है जिसका शक्ति केन्द्र श्री गुरु चरण हैं । इति अलम्



अनुक्रमणिका

शहादत की अद्वितीय मिसाल बन्दा वैरागी

फरवरी १७१६ में लाहौर नगर में विशाल शाही सेना ने प्रवेश किया । अब्दुल समद खाँ के सेनापतित्व में यह सेना पंजाब के गुरदास नंगल को जीतकर लौटी थी । आठ सौ सिख सैनिकों को बन्दी बनाकर गधों और ऊँटों पर बिठाकर लाया गया था । बड़े अपमानपूर्ण तरीके से इन लोगों का जुलूस निकाला गया । बाँसों पर सिक्खों के कटे हुए सिर टँगे हुए थे जिनके बीच में मरी हुई बिल्लियाँ और कुत्ते थे तथा ऊँटों पर उलटे बिठाये हुए सिख थे । जुलूस के बीच में एक पिंजरा था और उसमे कैद थे वीर बन्दा वैरागी । पंजाब के इस शेर को खुला लाने की हिम्मत उन दो हजार शाही सिपाहियों में नहीं थी ।

अप्रैल १७१५ को लाहौर के शाह जफरिया खान ने अपनी आठ हजार सेना के साथ अब्दुल समद खाँ को गुरुदास नंगल पर धावा करने के लिए भेजा था । गुरुदास नंगल के पास केवल आठ सौ सैनिक थे, जिन्होंने शाही फौज का आठ माह तक मुकाबला किया परन्तु हजारों की संख्या में घेरा डाले शाही सेना का मुकाबला कब तक किया जा सकता था । गाँव की रसद समाप्त हो गई तो सिपाहियों ने वृक्षों की छाल तथा सूखी हुई शाखाओं को कूट-कूट कर आटे की तरह फाँकना शुरू कर दिया । भूखा क्या न करता के अनुसार सिक्खों ने गाँव के सारे पशु भी मारकर खा डाले । फिर भी सिक्ख सेना के महान नायक वीर बन्दा वैरागी जीते दम तक लड़ने का उत्साह उनमें फूँकते रहे । मातृभूमि के प्रति अगाध प्रेम और धर्म तथा संस्कृति की रक्षा की भावना से भरे उनके सैनिक उस क्षण तक लड़ते रहे जब तक कि शरीर ने उनका साथ दिया ।

देश भक्त सिपाही भूख के कारण जल्दी ही अशक्त और अयोग्य

होने लगे । कई सैनिकों को खून के दस्त होना शुरू हो गये । बहुत से बीमार पड़ गये । अन्त में आत्म समर्पण का निर्णय लिया गया और उससे पूर्व यह दृढ़ संकल्प कि हम मरते दम तक अपने धर्म और संस्कृति के प्रति निष्ठा का त्याग नहीं करेंगे । सब किले से बाहर आ गये । इतने दिनों में शाही सेना की संख्या भी आठ हजार से घटकर दो हजार ही रह गई थी ।

उन सिपाहियों को ही पाँवों में बेड़ियाँ और हथकड़ियाँ डालकर लाहौर लाया गया था । रास्ते में अब्दुल समद धर्म परिवर्तन करने के लिए कईयों को ललचाता, बहलाता रहा और काटता-मारता भी रहा । परन्तु एक भी सिक्ख सैनिक न तो प्रलोभनों से आकृष्ट हुआ और न ही मारकाट व प्राण दण्ड से भयभीत हुआ । देश, धर्म और संस्कृति की रक्षार्थ एक व्यक्ति के कहने पर कुछ सौ लोग ही सही मरने के लिए तैयार हो जायँ तो निश्चित ही उनके प्रेरणा स्रोत और पथ-प्रदर्शक का व्यक्तित्व उतना ही प्रभावशाली तथा प्रामाणिक रहा होना चाहिए । जो कहा जाय वह केवल मुँह से नहीं अपनी निष्ठा तथा प्रामाणिकता से व्यक्त हो तो साथियों पर भी वांछित प्रभाव पड़ता है ।

यह प्रामाणिकता बन्दा वैरागी ने अपनी संस्कृति पर आये संकट और उसके निवारणार्थ गुरु गोविन्दसिंह द्वारा चलाये जा रहे प्रयासों से प्रभावित होकर उत्पन्न की थी । इसके पूर्व वे एक संन्यासी थे और भजन ध्यान में ही अपना समय व्यतीत किया करते थे ।

सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कश्मीर के डोगरा राजपूत परिवार में लक्ष्मण देव (बाद में बन्दा वैरागी) का जन्म हुआ । उनके पिता का नाम था रामदेव । वे आरम्भ से ही देश, धर्म और स्वाभिमान की रक्षा के लिए अत्याचारी मुगल शासकों का अन्त करने की बातें सोचा करते थे । इसके लिए उन्होंने प्रयत्न भी किए परन्तु कोई विशेष सफलता नहीं मिली । अपनी सन्तान से मनुष्य अपने अधूरे सपने पूरे करने की आशा करता है । इसलिए रामदेव ने अपने पुत्र को बचपन से ही हथियार चलाने, घुड़सवारी करने और रण विद्या सिखाना आरम्भ कर दिया ।

बाल्यावस्था में ही किसी को उपयोगी दिशा में लगा दिया जाय तो प्रगति की सम्भावना दृढ़ बन जाती है । लक्ष्मण देव भी सफलता की ओर निरन्तर अग्रसर होते गये ।

एक दिन शिकार खेलते समय उन्होंने एक हिरणी पर तीर छोड़ा । निशाना ठीक बैठा हिरणी मर गई । वह गर्भवती थी । नीचे गिरते ही हिरणी के गर्भ से दो बच्चे छिटक कर धरती पर गिर गये और कुछ समय बाद मर गये । इस घटना ने उन्हें इतना शोक ग्रस्त बना दिया कि उन्होंने तत्काल तीर कमान और तलवार आदि हथियारों को प्रणाम कर लिया । यही नहीं उन्होंने वैराग्य धारण करने का भी निश्चय कर लिया ।

१६ वर्ष के लक्ष्मण देव घर बार छोड़कर संन्यासी बन गये और उन्होंने अपना नाम बदलकर माधवदास रख लिया । देश भर की तीर्थयात्रा करते हुए वे नासिक के पास पञ्चवटी पहुँचे । हिरणी के शिकार की घटना और उससे वैराग्य धारण कर लेने के कारण लोग उन्हें असली नाम माधवदास के नाम से कम, वैरागी के नाम से ही अधिक जानने लगे थे । पञ्चवटी का रमणीक स्थान उनके मन भा गया और वहीं रहकर उन्होंने चौदह-पन्द्रह वर्ष तक कठोर तप किया । यहाँ उनकी बड़ी ख्याति फैली और हजारों लोग उनके शिष्य बनने के लिए आने लगे । वे लोक ख्याति से घबराने लगे । सामान्य जन तो अपना परिचय और प्रभाव क्षेत्र थोड़ा भी बढ़ते देख अति प्रसन्न हो उठते हैं परन्तु महानता के साधक जानते हैं कि यह एक मीठा जहर है, जो उसकी साधना और उपलब्धि को चौपट करके रख देता है । वैरागी भी यह सोचकर पञ्चवटी छोड़कर पंजाब के दक्षिण प्रदेश चले आये ।

उन दिनों गुरु गोविन्दसिंह जन जागरण के लिए पंजाब और देश भर की यात्रा पर निकले थे । उन्हें जब वैरागी बाबा और उनके पूर्व जीवन का पता चला तो सोचा कि प्रासंगिक घटनाओं से भावावेश में आकर मार्ग ही बदल देने वाले प्रतिभाशाली योग्य व्यक्ति को उपयुक्त दिशा में आसानी से नियोजित किया जा सकता है ।

गुरु गोविन्दसिंह ने वैरागी बाबा से सम्पर्क साधा और उन्हें अपने

विचारों तथा प्रयासों से अवगत कराया । धर्म का प्रचार ही नहीं उसकी सुरक्षा के लिए बलिदान करने की निष्ठा भी स्वयं में तथा लोगों में पैदा की जानी चाहिए । अत्याचार और अन्याय सहने की कायरता के स्थान पर उसका मुकाबला कर अत्याचारी को पराजित करने तथा अन्याय उन्मूलन करने का प्रयत्न आवश्यक ही नहीं अनिवार्य धर्म कर्तव्य है । गुरुजी से चर्चा के द्वारा इन तथ्यों को सुनने के बाद वैरागी का सोया हुआ क्षात्र तेज शौर्य और साहस के रूप में पुनः जाग उठा । गुरु गोविन्दसिंह के सम्मुख नतमस्तक होकर उन्होने कहा-"मुझे आपकी आज्ञा शिरोधार्य है । आप जैसा कहेंगे, करूँगा, मैं तो आपका बन्दा हूँ ।" इस परिपूर्ण समर्पण की स्मृति बनी रहे इसलिए गुरुजी ने महन्त माधवदास वैरागी को उठाकर छाती से लगा लिया और धर्म दीक्षित करते हुए बन्दा वैरागी नाम दिया । यह नाम उन्हें आजीवन अपने गुरु के आदर्शों तथा उनके प्रति अपने समर्पण को स्मरण कराता रहा । नाम भी विचारशील व्यक्तियों को अपने अर्थ के अनुरूप प्रेरणाऐं प्रदान करता है ।

गुरुजी से आशीर्वाद प्राप्त कर बन्दा वैरागी पंजाब के लिए रवाना होने लगे तो गुरु गोविन्दसिंह ने एक हुक्मनामा और २५ शिष्य दिये । इन जवानों को खालसा दल कहा गया । बन्दा वैरागी को सैन्य संगठन का काम सौंपा गया । हुक्मनामा भी इसी उद्देश्य से लिखा गया था । सिक्ख लोगों को गुरु जी का आदेश पढ़कर सुनाया गया तथा सैनिक शक्ति बनाने के लिए धन संग्रह, जन संग्रह और भाव संग्रह किया जाने लगा । कुछ ही दिनों में अच्छी खासी सेना तैयार हो गई । सभी सैनिक प्रखर निष्ठा और देश भक्ति की भावनाओं से भरे हुए थे। ये दो हृदय गत विभूतियाँ जिस व्यक्ति या संगठन के पास होती हैं वह अपनी सामर्थ्य से भी कई गुना अधिक कर दिखाता है । संख्या में बन्दा वैरागी की सेना भले ही कम रही हो परन्तु, उक्त दोनों विशेषताओं के कारण अच्छी खासी सेना कहना ही उपयुक्त लगता है ।

बन्दा वैरागी ने अपना पहला लक्ष्य बनाया सरहिन्द के धर्मोन्मादी नबाव वजीरखाँ को, जिसने गुरु गोविन्दसिंह के दोनों पुत्रों को जिन्दा

दीवार में चिनवाया था । रास्ते में शाहाबाद, मुस्तफाबाद, समाना आदि रियासतों को जीतते हुए सन् १७१० में खालसा सेना ने सरहिन्द पर आक्रमण बोल ही दिया । रणकुशल और छल बल में चतुर विशाल पठान सेना मुट्ठी भर खालसा सैनिकों के सामने नहीं टिक सकी । चौदह दिन की लड़ाई में ही सरहिन्द पर बन्दा वैरागी का कब्जा हो गया ।

सरहिन्द को विजय कर बन्दा वैरागी ने दुआबा के जालन्धर और माझा के इलाकों को भी जीत लिया और एक स्वदेशी राज्य का निर्माण कर लिया । अपने राज्य में उन्होंने गुरु गोविन्दसिंह के नाम के सिक्के चलाये । पठानों और मुगलों को इससे बड़ी चिन्ता हुई । दिल्ली, अवध, इलाहाबाद, मुरादाबाद आदि के सुल्तानों ने एक स्थान पर अपनी सेनाऐं इकट्ठी कर १७१० में बन्दा वैरागी के राज्य पर हमला बोल दिया । परिस्थितियों और घटनाओं का ऐसा क्रम चला कि सिखों को अपनी राजधानी छोड़कर पहाड़ियों में शरण लेनी पड़ी ।

परन्तु इसके बाद भी बन्दा वैरागी चुप नहीं बैठे । उन्होंने पहाड़ी क्षेत्रों में ही सिख राज्य की स्थापना कर ली और पंजाब के बहुत से भागों पर केशरिया झण्डा फहरा दिया । इतिहास हारकर बैठ जाने वालों से नहीं असफल हो जाने के बाद फिर प्रयत्न करने वालों से बनता है । इसी कारण इतिहास के लेखकों ने बन्दा वैरागी को इतिहास का निर्माता कहा है ।

लाहौर के सूबेदार अब्दुल समद खां ने फिर बन्दा वैरागी पर हमला बोला, जिसमें पूर्वोक्त कारणों से सिक्खों को आत्म समर्पण करना पड़ा । उनकी हत्या भी बड़ी पाशविक यन्त्रणायें देकर की गई परन्तु वे अन्त समय तक अपने निश्चय पर दृढ़ रहे । यहाँ तक कि जल्लाद ने उनके बच्चे को उनकी आँखों के सामने बड़ी निर्ममता से टुकड़े-टुकड़े कर उसकी कलेजी तक उनके मुँह में ठूँस दी थी । फिर भी वे अविचल ही रहे ।

केवल मुँह से इस्लाम कबूल कर लेने के लिए वे भी राजी न हुए क्योंकि हृदय और वचन की समानता उच्च चरित्र की पहली शर्त है । इस पर उनकी हत्या के दिन सबसे पहले उनकी बाँई आँख फोड़ी गयी,

फिर दाँया पैर काटा गया । फिर दोनों हाथ काट देने के बाद गरम चिमटे से उनकी बोटी-बोटी नोंच डाली गई और यह क्रम तब तक जारी रहा जब तक कि वे जिन्दा रहे । जून १७१६ में भयंकर यन्त्रणाऐं तथा यातनाऐं देकर उनकी हत्या की गई । फिर भी संकल्प और निष्ठा के धनी बन्दा वैरागी के मुँह पर एक आत्मदीप्त मुस्कान ही खेलती रही और हृदय में अपने प्रभु एवं गुरु गोविन्दसिंह का स्मरण गूँजता रहा ।

अपने धर्म, संस्कृति और जन्म सिद्ध स्वत्व-स्वतंत्रता को प्राप्त करने के लिए शहीद हो जाने वाले बन्दा वैरागी की सत्कीर्ति युगों-युगों के लिए अमर बन गई । संसार ऐसे निष्ठावान संस्कृति भक्तों का नाम सदैव श्रद्धा के साथ लेता रहेगा । बन्दा वैरागी ने धर्म के लिए भले ही अपना अंग-अंग नुचवा लिया हो परन्तु उनके इस बलिदान ने आगे चलकर कई वीरों के अंग इतने गर्मा दिए कि आततायियों को उल्टे पाँव जान बचाकर भागना पड़ा ।

शरीर तो एक न एक दिन छूटना ही है । अच्छा हो अगर वह धर्म के लिए छूटे ।

धर्म वीर हकीकतराय

यदि धर्म पर बलि हो जाने वाले बारह वर्षीय वीर बालक हकीकत राय को ध्रुव और प्रह्लाद की कोटि में रखा जाय तो भी असंगत न होगा । बालक हकीकतराय पर हुए अन्याय की गाथा सुनकर मानवता का सिर लज्जा से नीचा हो जाता है और उसकी धर्मनिष्ठा तथा वीरतापूर्ण दृढ़ता की पुण्य कथा स्मरण कर उसी प्रकार धर्म पर बलिदान हो जाने की प्रेरणा मिलती है । माता-पिता-पत्नी और अन्य सम्बन्धियों ने प्राण रक्षा के लिए हकीकतराय को मुसलमान हो जाने के लिए बार-बार समझाया और अनुरोध किया किन्तु उसने धर्म जैसे सार तत्व का त्याग कर मिट्टी के शरीर और नश्वर जीवन को बचाना स्वीकार न किया और अन्यायी के

आदेश से चली जल्लाद की तलवार से शिर कटाकर अमर हो गया । हकीकतराय निस्संदेह ध्रुव और प्रह्लाद की तरह धर्मनिष्ठ और अभिमन्यु की तरह वीर बालक था । जब तक संसार में धर्म का नाम बना रहेगा वीर बलिदानी हकीकतराय अमर रहेगा ।

हकीकतराय लाहौर के एक बहुत ही सम्पन्न खत्री परिवार का इकलौता बेटा था । वह वहाँ के एक मदरसे में फारसी पढ़ने जाया करता था । उस मकतब में हकीकत को छोड़कर बाकी सब लड़के मुसलमान थे । वह भी सबके सब उस समय के वातावरण के अनुसार बड़े ही उद्दण्ड और साम्प्रदायिक भावना वाले थे ।

एक दिन मौलवी किसी काम से बाहर चला गया । सारे मुसलमान लड़के हकीकतराय को घेर तरह-तरह से उसे परेशान करने लगे । पहले तो उसके हिन्दू होने पर हँसी उड़ाई, फिर उसकी चोटी और जनेऊ की मखौल उड़ाई । किन्तु जब धैर्यवान् हकीकतराय इस पर भी उत्तेजित न हुआ और उन्हें मूर्ख समझकर हँसता ही रहा तो उन उद्दण्ड लड़कों ने हिन्दू धर्म की आलोचना की और भगवती सीता के आचरण पर आक्षेप लगाया उसने उन सब गन्दे लड़कों की भर्त्सना की और कहा कि यदि तुम्हारी बीबी फातमा के लिए कोई ऐसी बात कही जाए तो तुम सबको कैसा लगेगा ? बस, इतनी-सी बात सुनकर मुसलमान लड़के आपे से बाहर हो गये और सबने मिलकर उस अकेले बालक को बुरी तरह मारा-पीटा । किन्तु जब इस पर भी संतोष न हुआ तो मौलवी के आने पर उसकी शिकायत की कि हकीकत ने बीबी फातिमा को गालियाँ दीं । हकीकतराय ने सारी वस्तु स्थिति मौलवी को बताकर अपना स्पष्टीकरण किया । किन्तु मुतासिव मौलवी को इससे संतोष न हुआ और बस, निर्दोष बालक के खून का प्यासा हो गया । मौलवी ने उस सुकुमार किशोर को खुद तो जितना मारना था मारा उसके बाद के काजी के हवाले कर दिया । मुकदमा चला और हकीकत राय ने काजी को भी सारी सत्य बात बतला दी ।

किन्तु काजी में भी सत्य का अंश न था । उसने हकीकतराय पर बीबी फातिमा को गाली देने का अपराध लगाकर प्राण-दण्ड की आज्ञा दे दी ।

हकीकत के माता-पिता ने लाहौर के सूबेदार के यहाँ अपील की वहाँ भी मुकदमे की सुनवाई पर अन्याय के समर्थक सूबेदार ने काजी की दी सजा बहाल रक्खी, हाँ, यह शर्त जरूर लगा दी कि यदि हकीकतराय मुसलमान हो जाए तो उसको प्राणदण्ड से बरी किया जा सकता है । हकीकतराय के माता-पिता ने इसे ही बड़ी कृपा समझी और उससे मुसलमान हो जाने को कहा । पर हकीकतराय धर्म की रक्षा में माता-पिता के मोह और अपनी अबोध पत्नी के प्रेम की परवाह न कर सका । सूबेदार ने उसको अपनी बेटी ब्याह देने और एक बड़ी जागीर देने का भी प्रलोभन दिया तथापि वीर हकीकतराय विचलित न हुआ और वह सारे माया, मोह, ममता और प्रलोभनों को मिथ्या सिद्ध कर धर्म की वेदी पर बलिदान हो गया ।

धन्य है हकीकतराय और धन्य है उसका बलिदान ।

प्रथम स्वातंत्र्य युद्ध के सर्वोच्च सेनापति

तात्या टोपे

गौरवर्ण, छोटी पर मोटी और मजबूत गर्दन के ऊपर गोल-मटोल तेजस्वी मुख-मण्डल, भारी सिर पर अर्ध गोलाकार मखमली रत्नजड़ित लाल टोपी, ओजपूर्ण चमकीली आँखें, मझोले कद के सुडौल और गठे हुए शरीर में चकले जैसी छाती, अंग-अंग में विद्युत-सी चपलता और मस्तक पर गहन विचारों की रेखा, ऐसा है हमारे १८५७ के प्रथम स्वातन्त्र्य-संग्राम के सर्वोच्च सेनापति महाबली स्वर्गीय तात्या टोपे का शबद चित्र ।

तात्या टोपे का जन्म सन् १८१४ के लगभग एक ब्राह्मण परिवार में

हुआ था । उनके पिता पेशवा बाजीराव के धर्म गुरु थे । तात्या टोपे का जन्म का नाम रामचन्द्रराव था । इस जन्मजात क्रान्तिकारी रामचन्द्रराव ने पुरोहिताई में याचक वृत्ति का दूषण देखकर उसे अपनाने में अनिच्छा प्रकट की । उन्हें आरम्भ से ही शास्त्रों की अपेक्षा शस्त्रों से विशेष अनुराग था । बालक की रुचि के अनुकूल शस्त्र विद्या सिखाने का कार्य स्वयं बाजीराव पेशवा ने अपने हाथों में लिया । धीरे-धीरे बालक रामचन्द्रराव की शस्त्र चलाने की असाधारण प्रतिभा मुखरित हो उठी । बर्छा, तलवार, बिछवा आदि अस्त्र-शस्त्र चलाने में उन्होंने अद्‌भुत कौशल का परिचय दिया । बाण की प्रत्यंचा को चढ़ाने में तो वह अद्वितीय थे । एक बार हाथ से निकला तीर कभी व्यर्थ नहीं जाता था । बालक की इस असाधारण प्रतिभा पर मुग्ध होकर बाजीराव पेशवा ने भरी राजसभा में युवक रामचन्द्रराव को एक रत्न जटित लाल मखमली टोपी से विभूषित किया । उस समय इस युवक का मुख बाल रवि की भाँति स्वाभिमान से शोभायमान हो रहा था । पेशवा ने इस अवसर पर आशीर्वाद देते हुए कहा था कि बेटा देश की धरती को एक दिन तुम नापाक फिरंगियों से अवश्य मुक्त कराओगे । इस कार्य में भगवान तुम्हारी सहायता करेंगे । बस उसी दिन से रामचन्द्रराव तात्या टोपे के नाम से प्रसिद्ध हुए । सन् १८३७ तक देश के अनेक भागों में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन स्थापित हो चुका था । अंग्रेजों की स्वेच्छाचारिता और निरंकुशता बढ़ती चली जा रही थी । कम्पनी के अंग्रेज शासकों ने बाजीराव पेशवा को पूना से निर्वासित कर दिया था । इस प्रकार छोटी आयु से ही अपनी मातृभूमि को छोड़कर तात्या टोपे कानपुर के पास बिठूर (ब्रह्मावर्त) चले आये थे । यहीं सर्व प्रथम झाँसी की महारानी लक्ष्मीबाई और नाना फडनवीस से उनका साक्षात्कार हुआ था । इस समय तात्या टोपे की अवस्था लगभग २४ वर्ष, नाना फडनवीस की १६ वर्ष और लक्ष्मीबाई की कुल १० वर्ष थी । तात्या टोपे ने बिठूर के दुर्ग में रानी लक्ष्मीबाई और नाना साहब को शस्त्र विद्या की शिक्षा दी । शस्त्र विद्या के साथ-साथ तात्या टोपे ने इन दोनों के

अन्दर राजनीतिक कौशल और क्रान्तिकारी भावनाओं का समावेश किया। नकली दुर्ग बनाना, कल्पित सेनाओं पर आक्रमण करना, किलों को तोड़ना, शिकार करना, छापामार युद्ध करना आदि में तात्या टोपे ने इन्हें प्रवीण कर दिया था।

बाजीराव पेशवा ने तात्या टोपे को पहले से ही काँटों का ताज पहना कर आने वाली स्वातंत्र्य क्रान्ति का कर्णधार निर्धारित कर दिया था। समय की गति तेजी से करवट ले रही थी। अंग्रेजों के अत्याचारों एवं जघन्य कृत्यों के विरुद्ध देश का वातावरण गर्म हो उठा था। देश के सभी छोटे-बड़े राज्यों का अंग्रेज क्रमशः अन्त और विनाश करते जा रहे थे। भारतीय राजा-नवाबों के सभी रीति-रिवाज और प्रथाओं का अन्त कर अंग्रेजी सभ्यता प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी। मदोन्मत्त फिरंगियों में चारित्रिक हीनता भी बहुत बढ़ गई थी।

अंग्रेजों के खिलाफ तात्या टोपे के सुनिश्चित षड़यन्त्र का श्रीगणेश सन् १८५१ में हुआ जबकि पेशवा बाजीराव की मृत्यु के पश्चात् कम्पनी के शासन ने नाना साहब को उनका दत्तक पुत्र मानने से इन्कार कर दिया था। पेशवा बाजीराव ने नाना साहब को १८२७ में दत्तक पुत्र के रूप में गोद ले लिया था। वास्तव में वे ही उनके उत्तराधिकारी थे पर अंग्रेजों ने उनके इस अधिकार की अवहेलना की। इसी समय तात्या टोपे का अन्तर्द्वन्द्व प्रथम बार क्रान्ति का मूर्त रूप लेकर प्रकट हुआ।

पूरे ६ वर्ष तक तात्या टोपे ने इस क्रान्ति आन्दोलन को मूर्त रूप देने के लिए सारे देश का भ्रमण कर सभी राजाओं एवं गणमान्य व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित किया और सावधानी के साथ क्रान्ति की अग्नि को सुलगाया। महीनों के विचार-विमर्श के पश्चात् ३१ मई १८५७ क्रान्ति दिवस निश्चित किया गया किन्तु दुर्भाग्यवश इस क्रान्ति के ज्वालामुखी का लावा २० दिन पूर्व ही मेरठ में फूट निकला।

इस संग्राम में महावीर तात्या की चमकती हुई तलवार ने काल का रूप धारण कर अनेक देशी-विदेशी शत्रुओं का संहार किया। अपने अन्तिम श्वाँस तक तात्या टोपे ने कभी अंग्रेजों की आधीनता स्वीकार

नहीं की। उस समय अंग्रेज सभी देशी राज्यों का अन्त कर भारत में एकछत्र राज्य स्थापित करने का स्वप्न देख रहे थे। सेनापति तात्या टोपे भला ऐसे अपवित्र शासन को कैसे सहन कर सकते थे। उन्होंने बिठूर के दुर्ग पर खड़े होकर बगावत का झण्डा बुलन्द किया।

मेरठ में विप्लव का विस्फोट होते ही नाना साहब फडनवीस अपने भाई रावसाहब और तात्या टोपे को पेशवा की गद्दी का उत्तराधिकारी बनाकर क्रान्ति का नेतृत्व करने मेरठ की ओर प्रस्थान कर गए। क्रान्ति की अग्नि देश में सर्वत्र धधक रही थी। आवश्यकता थी एक रण बाँकुरे सेनापति की जो क्रान्ति का सुचारु रूप से संचालन कर सके। सप्ताहों महारानी लक्ष्मीबाई, नाना फडनवीस और प्रमुख क्रान्तिकारियों ने इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार-विनिमय किया और अन्त में १८ जून को तात्या टोपे को १८५७ की इस महाक्रान्ति का सर्वोच्च सेनापति चुन लिया।

विप्लवी सेनाओं की बागडोर अपने हाथ में लेते हुए देश की जनता के नाम सेनापति तात्या टोपे ने एक सन्देश प्रसारित किया जिसमें कहा गया था कि-"भारत की स्वतंत्रता को चिरस्थाई और अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए देश के सभी लोग आपसी भेदभाव भुलाकर अंग्रेजों को मार भगाने के लिए संगठित हो जायें। अंग्रेजों ने हमें परतन्त्र करने के लिए देश में जो दमन चक्र आरम्भ किया है, हमें उसका खुले रूप में मुकाबला करना है। अंग्रेजों की उद्दण्ड सैनिक शक्ति और नापाक हुकूमत को हिन्दुस्तान से समाप्त करने के लिए विप्लवी सेनाओं का पूरा-पूरा साथ देना आप लोगों का कर्तव्य है। जय भारत आपका तुच्छ सैनिक-तात्या टोपे।"

सेनापति तात्या टोपे के इस आह्वान पर भारतीय स्वतन्त्रता की उन्मुक्त सेनाऐं उनके नेतृत्व में सिंह गर्जना के साथ लोहा लेने को कटिबद्ध हो गईं। भारतीय सेनाएँ अंग्रेजी फौजों का सफाया करती निरन्तर आगे बढ़ रही थीं। कितने ही अंग्रेज मारे गये। इस समय बहुत से देशद्रोही भी अंग्रेजों का साथ दे रहे थे। ऐसे सभी लोगों को खोज-

खोज कर तात्या टोपे की विप्लवी सेनाओ ने मौत के घाट उतार दिया और जिन लोगों ने क्षमायाचनाा कर अधीनता स्वीकार कर ली, उनको सेनापित ने अभय दान दिया ।

तात्या टोपे में विलक्षण दैवी शक्ति थी । विकट परिस्थिति में जब कभी मार्ग में घोड़े को छोड़ देना पड़ता था तब सेनापति तात्या टोपे द्रुतगति से क्रान्ति का संचालन करने के लिए अपने पैरों में एक विशेष प्रकार के बने हुए बाँसों का प्रयोग किया करते थे । जिस समय वे इन बाँसों को पैरों में बाँधकर वायु वेग से भागते थे । उस समय अंग्रेज शत्रुओं की दक्ष सुसज्जित और साधन सम्पन्न सेनाएँ उनके पेरों की उड़ती हुई धूल को भी नहीं देख पाती थीं ।

तात्या टोपे के अपूर्व बल और रण चातुर्य पर मुग्ध होकर लन्दन के 'डेली न्यूज' और 'लन्दन टाइम्स' तक ने उनकी बड़ी प्रशंसा की । 'टाइम्स' ने लिखा-"तात्या टोपे बड़ा साहसी वीर है । वह धैर्यवान्, विचारक और कुशल योद्धा है ।" नेलसन नामक एक अंग्रेज लेखक ने अपनी 'भारत विद्रोह का इतिहास' नामक पुस्तक में लिखा है- 'निस्सन्देह संसार की किसी भी वीर सेना ने इतनी तीव्रगति और साहस के साथ कभी कूच नहीं किया, जितनी तेजी के साथ बहादुर तात्या टोपे की सेना ने किया ।'

लन्दन के 'डेली न्यूज' के सम्वाददाता की रिपोर्ट के अनुसार- 'हमारा विचित्र मित्र तात्या इतना चतुर और कठोर है कि मैं उसकी सराहना किए बिना नहीं रह सकता । उसने हमारे बहुत से नगर उजाड़ दिये । उसने सेनाऐं इकट्ठी कीं और कटवा डालीं । हमारी तोपें छीन लीं और हमारा ही सफाया किया । अपनी गति में तो वह बिजली को मात कर रहा है । कई-कई सप्ताह चालीस-पचास मील प्रति घण्टे की गति से यात्रा करता है । हमारी सेनाओं के आगे रहता हुआ अचानक पीछे पहुँच जाता है । सर्वोत्तम मशीन भी इतनी तेजी न कर सकेगी जितनी तूफानी तात्या करता है । पर्वतों की चढ़ाई पर, कन्दराओं में, घाटियों में, दलदलों में, पीछे-आगे, ऊपर-नीचे, कहीं भी तात्या टोपे के जाने में

कोई बाधा नहीं डाल सकता है । वह चक्करदार मार्गों से तुरन्त ही हमारी सेनाओं और सामान की गाड़ियों पर बाज की तरह आक्रमण करता है किन्तु हमारे हाथ नहीं आता ।'

तात्या टोपे ने दूर-दूर तक अंग्रेजों का सफाया कर दिया था परन्तु कुमक पहुँचने पर अंग्रेजी सेनाऐं पुनः आगे बढ़ आती थीं और अपनी भयानक तोपों से नगर-नगर और ग्राम के ग्राम ध्वंस कर देती थीं ।

ग्वालियर के युद्ध में असफल होकर सेनापति तात्या नर्मदा नदी को पार कर महाराष्ट्र पहुँचे और वहाँ उन्होंने जनता को अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध के लिए संगठित किया । झाँसी की रानी के बाद अंग्रेज यदि किसी से घबराते थे तो वे थे तात्या टोपे । इसलिए शत्रु की सेनाऐं निरन्तर उनकी खोज में रहती थीं । कहा जाता है कि तात्या वर्षा काल में चम्बल की तूफानी लहरों पर सर्प की भाँति तैर जाते थे । सेनाऐं और सामग्री की कमी के दिनों में अंग्रेजी सेनाऐं उनको पकड़ने के लिए मार्ग रोककर दीवार बनकर खड़ी रहती थीं किन्तु विप्लवी देश भक्त सेनाएँ सदैव उनसे डटकर लोहा लेती रहीं और उनकी पंक्तियों को तोड़-फोड़ कर आगे बढ़ती रहीं । उन्होंने अपने अपूर्व युद्ध कौशल से अंग्रेजों को परास्त कर कानपुर पर पेशवाई का झण्डा फहरा दिया पर अंग्रेजों ने पुनः कानपुर पर चढ़ाई की और महीनों तक दोनों ओर से सेनाऐं जूझती रहीं । घमासान युद्ध चलता रहा । निश्चय ही विजय देशभक्त सेनाओं की होती किन्तु तत्काल ही अंग्रेजों की नई सेना के आ जाने के कारण तात्या टोपे घिर गये और उन्हें युद्ध स्थगित कर मैदान छोड़ देना पड़ा ।

फिर भी वे हतोत्साहित नहीं हुए । कानपुर पर पुनः अधिकार करने के लिए क्रान्तिवीर तात्या की सेनाओं ने परखारी पर अधिकार कर लिया । कानपुर पर धावा बोलने की तैयारी थी कि लक्ष्मीबाई ने दूसरे मोर्चे पर सैनिक सहायता की माँग की । इसलिए वह स्वप्न अधूरा रह गया ।

इस क्रान्ति को चलते काफी समय हो गया था । धीरे-धीरे तात्या टोपे के अनेक मित्र और सहयोगी विप्लव की आहुति में प्राणार्पण कर चुके थे । कुछ देश द्रोही बन गये थे किन्तु तात्या टोपे अन्तिम श्वांस तक संघर्ष करते रहे ।

एक बार किसी वन में छिपी तात्या की सेनाऐं विश्राम कर रही थीं । अंग्रेजी सेनाओं ने उन्हें चारों ओर से घेर कर आग लगादी । वह सब जंगल जलकर राख हो गया और अंग्रेजी सेनाएँ ज्यों की त्यों खड़ी रहीं । अंग्रेज समझे कि वे सब लोग जलकर खाक हो गये किन्तु ज्योंही सेनाऐं पीछे हटीं त्योंही महावीर तात्या टोपे की जीवट सेना ने अचानक भयानक वेग से अंग्रेजी सेनाओं पर घातक आक्रमण कर दिया, जिसके परिणामस्वरूप सारे अंग्रेज मारे गये ।

तात्या टोपे की मृत्यु के सम्बन्ध में इतिहासकारों के विभिन्न मत पाये जाते हैं । कोई कहता है कि तात्या टोपे को गिरफ्तार करने के पश्चात् अंग्रेजों ने उसी समय उनके हाथ-पैर बाँध कर मार डाला था । कई लोगों का कहना है कि उनको फाँसी दी गई थी किन्तु इतिहास के गहन अध्ययन से पता चलता है कि मानवता, न्याय और नीति की दुहाई देने वाले कई क्रूर अंग्रेजों ने मिल कर उनकी बड़ी बेरहमी से हत्या की । इस पर भी जब उनकी पैशाचिक प्यास नहीं बुझी तब प्रतिशोध लेने के लिए उन्होंने मृत शरीर को १८ अप्रैल १८५९ को तोप के मुँह से बाँधकर उड़ा दिया ।

माँ के इस महान सपूत को कृतज्ञ राष्ट्र का शतशः नमन् ।

स्वातन्त्र्य युद्ध का प्रथम सैनिक
मंगल पाण्डे

अंग्रेज भारत में व्यापारी बनकर आये थे । शाहजहाँ के दरबार में सर टामस रो ने व्यापारिक सुविधाओं के लिए घुटनों के बल झुक कर निवेदन किया था । वही अंग्रेज १८५० तक भारत सम्राट बन बैठे । मुगल सम्राट उनके हाथों की कठपुतली भर रह गया । भारतीय जनता अंग्रेजों के इस कुचक्र को समझ नहीं पाई । उसे चेत तब हुआ जब राजनैतिक विजय के बाद उन्होंने सांस्कृतिक विजय करने की ठानी और वैसे ही प्रयास आरम्भ कर दिये ।

भारतीय जनमानस धर्म व संस्कृति से ही नियन्त्रित, संचालित रहा है । जब धर्म व संस्कृति पर चोट पड़ने लगी तो उन्हें चेत आया, वे क्षुब्ध हो उठे । भीतर ही भीतर विप्लव की पृष्ठभूमि बनने लगी । १८५७ में मंगल पाण्डे नामक एक युवा सैनिक ने इस विप्लव को स्वर दिया । देखते ही देखते यह स्वर महाराग बनकर भारत के दिगदिगंत को प्रकम्पित करने लगा । अंग्रेजों के साम्राज्य की प्राचीरें ढहने लगीं ।

अंग्रेज इतिहासकार ने उस विस्फोट को अपने शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है-"२९ मार्च १८५७ को बैरक पुर की ३४वीं हिन्दुस्तानी बटालियन में असाधारण हलचल दिखाई दी । भारतीय हवलदार मेजर हाँफता हुआ अपने अंग्रेज अधिकारी के पास आया और यह खबर सुनाई कि एक दबंग सिपाही ने यह घोषणा कर दी है कि वह बागी है । वह बैरकों में क्रान्ति का प्रचार करता हुआ घूम रहा है । लेफ्टीनेण्ट घोड़े पर सवार होकर लाइन की ओर गया तो क्या देखता है कि एक जवान सिपाही जिसका नाम मंगल पाण्डे था, सिपाहियों में घूम-घूमकर यह प्रचार कर रहा है ।"अंग्रेज सरकार हमारे धर्म का नाश कर रही है ।

हमें उसकी नौकरी छोड़ देनी चाहिए ।" वह यह घोषणा भी करता जा रहा था-"मैंने प्रतिज्ञा कर ली है कि जो भी अंग्रेज मेरे सामने आयेगा उसे गोली मार कर ढेर कर दूँगा ।"

बगावत का प्रचार कर ही रहा था कि अंग्रेज लेफ्टीनेण्ट उसके सामने जा पहुँचा । मंगल पाण्डे ने क्षण भर का विलम्ब किए बिना उस पर गोली दाग दी । अंग्रेज अफसर ने गोली बचाने के लिए घोड़े को मोड़ दिया । फलस्वरूप गोली घोड़े को लग गई और वह कूद कर दूर जा खड़ा हुआ । उसने दूर खड़े मंगल पाण्डे पर जो गोली चलाई वह खाली गई । बिफरे सिंह की तरह मंगल पाण्डे उस पर टूट पड़ा व अपनी तलवार से उसे परमधाम पहुँचा दिया । लेफ्टीनेण्ट की सहायता के लिए एक अंग्रेज सार्जेण्ट मेजर दौड़कर आया उसका उसे भी मंगल पाण्डे ने काम तमाम कर दिया ।"

बीस भारतीय सिपाही मंगल पाण्डे की इस कारगुजारी को देखते रहे । मेजर जनरल भी यह वारदात देख रहा था । किन्तु न वह बीच में पड़ा न उसके आदेश को मानकर भारतीय सिपाहियों ने इस बिफरे शेर को ही पकड़ा । उनमें भी देश प्रेम व स्वधर्म रक्षण की उमंगें बलवती होने लगी थीं । ३४ वीं पलटन के कर्नल व्हीलर ने भी उन्हें मंगल पाण्डे को पकड़ने का आदेश दिया पर उन्होंने अनसुना कर दिया ।

दोनों अंग्रेज मंगल पाण्डे की असिधारा के वार से मर चुके थे । दूसरे अंग्रेज खड़े-खड़े देख रहे थे । किसी में उसे पकड़ने का साहस शेष नहीं रहा था । भारतीय सिपाही आदेश मानने को तैयार नहीं थे । छोटे अफसर इस प्रकार उस काण्ड को हतप्रभ हो देख ही रहे थे कि तभी फौज का बड़ा अफसर वहाँ आया और उसने अंग्रेजों को उनकी कायरता पर धिक्कारा । तब वे संगठित होकर आगे बढ़े । पर मंगल पाण्डे बन्दी होना नहीं चाहता था । उसने अपनी ही बन्दूक का मुँह अपने सीने की ओर करके गोली दाग दी । किन्तु वह मर नहीं सका, पकड़ा गया ।

मंगल पाण्डे ने जिस क्रान्ति का शंख फूँका था उसके बीज कभी के भारतीय जनता व सैनिकों में पड़ चुके थे । उनकी अभिव्यक्ति भर

होनी बाकी थी । ईसाई धर्म प्रसार के लिए अंग्रेज पादरियों की धड़ाधड़ नियुक्तियाँ होना तथा गाय व सुअर की चर्बी लगे कारतूसों का अंग्रेज सरकार द्वारा निर्माण कराया जाना, जिन्हें दाँतों से तोड़ना पड़ता था । ऐसे प्रत्यक्ष कारण थे जिनसे भारतीय जनमानस में विक्षोभ की लहर सी फैल गई थी । यही नहीं भारतीय रीति-रिवाजों में भी अंग्रेजों ने हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया था । बिठूर के नाना साहब पेशवा व झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई भी उनकी अन्यायपूर्ण अनीति के शिकार हो चुके थे । पेशवा गुप्त रूप से क्रान्ति की अद्‍भुत योजना के ताने-बाने बुनकर उसके सुनियोजित ढंग से विस्फोट की ताक लगाये बैठा था ।

बैरक पुर के भारतीय सैनिकों में भी ऐसी ही बातों को ले कर रोष फैल चुका था । मंगल पाण्डे के इस साहसिक कृत्य से उस रोष का विस्फोट हो चुका था । अंग्रेज अब तक भारतवासियों को खरीदे हुए गुलाम समझते थे और उन्हीं के बल पर मुट्ठी भर अंग्रेजों ने अपनी कूटनीति के सहारे इस विशाल देश पर साम्राज्य जमा लिया था किन्तु उन्होंने अब इनका दूसरा ही रूप देखा था । अपने धर्म पर आँच आते देख कर वे किस प्रकार बगावत कर सकते हैं । यह इस घटना ने स्पष्ट कर दिया था ।

मंगल पाण्डे को घायल अवस्था में बन्दी बना लिया गया । उसने अपना कार्य पूर्ण कर लिया था । एक क्रिया उसने की थी, उसकी प्रतिक्रिया भारतीय सैनिकों पर हो रही थी धीरे-धीरे ही सही, पर वह ठोस प्रभाव डाल रही थी और समय पाकर वह राष्ट्र व्यापी क्रान्ति के रूप में फूट पड़ी थी । कुछ दिन बाद उसका कोर्ट मार्शल किया गया, जिसमें उसे फाँसी की सजा सुनाई गयी, ताकि हिन्दुस्तानी सैनिक बगावत का परिणाम देखें । हिन्दुस्तानी सिपाहियों के प्रति अंग्रेज इतने सशंक हो उठे थे कि उन्हें फाँसी देने के लिए चार आदमी कलकत्ते से बुलाने पड़े थे । मंगल पाण्डे को भारतीय सिपाहियों के सामने फाँसी दी गई । अंग्रेजों ने आश्चर्य से देखा कि फाँसी के फन्दे को गले लगाते समय उसके चेहरे पर कोई शिकन नहीं थी-उदासी का कोई चिह्न नहीं

था । वरन् वह झूमता हुआ फाँसी के तख्ते पर चढ़ा । उस समय उसके तरुण मुख मण्डल पर देश प्रेम की स्वर्गीय आभा चमक रही थी । उसकी निगाहें कह रही थीं कि तुम अब यहाँ राज्य नहीं कर सकते । उन्हें देखकर अंग्रेज सैनिक पदाधिकारी सहम उठे थे । मरने के पहले भी वह हिन्दुस्तानी सैनिकों को देश-धर्म की बलिवेदी पर प्राणोत्कर्ष करने की प्रेरणा देता रहा था ।

मंगल पाण्डे का पार्थिव शरीर तो फाँसी पर झूल गया पर उसकी ये प्रेरणायें हजार गुना प्रबल होकर जनमानस को आन्दोलित करती रहीं । इसी के परिणामस्वरूप १८५७ की इतिहास प्रसिद्ध क्रान्ति हुई । एक दिन अंग्रेजों को भारत छोड़कर जाना ही पड़ा । सच है कोई बलिदान व्यर्थ नहीं जाता-कोई सत्कार्य अप्रभावी नहीं होता ।

जौरापुर का राजा बालक

उस समय देश में अंग्रेजों का शासन था । १८५७ की क्रान्ति सम्पूर्ण भारत में फैली तो ऐसा लगने लगा कि अब तो इन क्रूर अत्याचारियों के शासन से मुक्त होने का समय आ गया है और अंग्रेजी शासन का सूर्य अस्त होगा भी तो इसी भारतभूमि पर ।

पूरे देश में क्रान्ति की लहर दौड़ रही थी । फिर हैदराबाद इस हवा से कैसे अछूता रह सकता था । यहाँ पर सर सालारजंग नामक दीवान राज्य का कार्य सँभाल रहा था । दीवान अंग्रेजों का दलाल था । उसे देश भक्तों को मृत्यु दण्ड देने में तनिक भी संकोच नहीं होता था । सालार जंग और निजाम अफजुलदौला देश भक्तों के साथ विश्वासघात कर रहे थे । उन्होंने कितने ही व्यक्तियों को पकड़वाकर अंग्रेज अधिकारियों केसुपुर्द कर दिया था ।

हैदराबाद के निकट थी जौरापुर नामक एक छोटी-सी रियासत ।

राजा की मृत्यु हो गई तो राजकुमार को उसका उत्तराधिकारी बनाकर गद्दी पर बिठाया गया । उस बालक राजा की आयु अवश्य कम थी, पर वीरता, साहस, सूझबूझ और देश भक्ति में किसी से कम नहीं था ।

बालक राजा की शिक्षा-दीक्षा राष्ट्रीय वातावरण में हुई थी । इसके अतिरिक्त अपने माता-पिता के संस्कारों से भी वह प्रभावित था । बचपन से ही नाना साहब, तात्या टोपे और झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई की वीर गाथाऐं सुनता रहा था । अत: भय नाम की कोई वस्तु तो उसमें नाम मात्र को न थी । वह तो उन राष्ट्र भक्तों की तरह स्वयं भी बनकर संसार के वीरों के मध्य अपना स्थान बनाना चाहता था ।

निजाम और दीवान की कुदृष्टि इस रियासत पर थी । वह इसे हड़प कर अपने अधिकार में करना चाहते थे । बालक राजा रुहेलखण्ड के रहने वाले रुहेले पठानों और अरब लोगों की सेना बनाकर अंग्रेजों के छक्के छुड़ाने लगा । स्वभाव का सीधा-सादा वह बालक दीवान सालार जंग की चालाकियों को न समझकर उसके चक्कर में फँस गया । दीवान ने उसे गिरफ्तार करवा कर अंग्रेजों को सौंप दिया ।

अनेक यातनाएँ तथा प्रलोभन देने के बाद भी उस बालक ने न तो क्षमा माँगी और न अपने साथियों का भेद बताया । अंग्रेज अधिकारी निडोल टेलर का उस बालक से बहुत प्रेम था । उसकी भी टेलर के प्रति अपार श्रद्धा थी । वह टेलर को अप्पा कहकर संबोधित करता था । टेलर को विश्वास था कि वह क्रान्तिकारियों का रहस्य जानने में सफलता प्राप्त कर लेगा । उसके बहुत पूछने पर भी बालक राजा ने यही उत्तर दिया ।

"अप्पा ! आपके प्रति मेरे हृदय में आज भी वही स्नेह तथा श्रद्धा है । पर यह तो आप जानते ही हैं कि यह मेरे देश का मामला है । मैं अपने प्राणों की रक्षा करने के लिए देश भक्तों के साथ विश्वासघात नहीं कर सकता । जीवन में मृत्यु तो एक बार आती है । अंग्रेज अधिकारी भले ही मुझे फाँसी पर चढ़ा दें, उनके द्वारा दिये गये प्रत्येक दण्ड को सहर्ष स्वीकार करूँगा, पर विदेशियों का दास बनकर कायरतापूर्ण जीवन जीना पसन्द नहीं करूँगा ।

अपने द्वारा समझाने का भी जब उस पर कोई प्रभाव नहीं हुआ और उसने अंग्रेज रेजिडैंट से मिलने के प्रस्ताव को भी ठुकरा दिया तो टेलर को बहुत दुख हुआ, पर एक दिन वह उस बालक के पास जेल में गया और अंग्रेजों द्वारा दिये गये मृत्यु दण्ड को सुना दिया ।

बालक राजा को बड़ी प्रसन्नता हुई । मृत्यु दण्ड सुनकर भी मुस्कराहट । टेलर को आश्चर्य हुआ । टेलर ने उसकी प्रसन्नता का कारण जानना चाहा तो उसने यही उत्तर दिया ।

"अप्पा ! फाँसी और काले पानी की सजा में उतना कष्ट नहीं है जितना देश भक्तों के साथ विश्वासघात करने में, क्योंकि फाँसी पर चढ़कर तो हमें इसी जीवन में केवल एक ही बार कष्ट उठाना पड़ेगा । पर देश द्रोही बनने पर तो इस आत्मा को कई जन्मों में कष्ट होगा क्योंकि इस पर राष्ट्र को धोखा देने का दोष लगा होगा । अतः ऐसे घृणित जीवन के जीने की अपेक्षा मैं मृत्यु को वरण करना अधिक अच्छा समझता हूँ । "

"बेटा ! ऐसी स्थिति में मैं तुम्हारी क्या सहायता कर सकता हूँ ?"

"यदि सहायता ही करना चाहते हैं तो आप ऐसी व्यवस्था कर दीजिए कि मैं तोप के मुँह से उड़ाया जाऊँ । मैं फाँसी को चोरों की सजा समझता हूँ । मैं चोर नहीं हूँ बल्कि देश भक्त हूँ । मेरा अपराध देश भक्ति है इसीलिए तो मुझे यह फाँसी की सजा दी जा रही है । यदि आपने तोप के मुँह से उड़ाने की सजा सरकार से दिलाने की व्यवस्था की तो देखना यह बालक किस बहादुरी से 'भारतमाता की जय" बोलकर शान्ति के साथ अपने जीवन को समाप्त करता है ।"

टेलर उस समय तो चला गया, परन्तु शान्त नहीं बैठा रहा । उसने जाकर बहुत दौड़धूप की, तब कहीं मृत्यु दण्ड को काले पानी की सजा में बदला जा सका । पर वह यह न जानता था कि काले पानी की सजा को वह अपमानजनक मानता है । जैसे ही बालक को सजा के परिवर्तन की सूचना मिली तो उसके मुख से यही निकला "टेलर अप्पा ने मेरे साथ यह क्या किया ? उन्हें शायद नहीं मालूम कि मेरा प्रत्येक सैनिक

जेल और काले पानी की सजा को अपमानजनक और कायरतापूर्ण मानता है । फिर मैं तो उनका राजा हूँ । यदि जिऊँगा तो वीर की तरह और यदि मरने का समय आयेगा तो उसे भी वीरता के साथ वरण करूँगा ।"

बालक राजा को जब काले पानी की सजा के लिए ले जा रहे थे, तब उसने मजाक में ही पास बैठे एक अंग्रेज पुलिस अधिकारी की पिस्तौल ले ली और थोड़ी देर इधर-उधर पलट कर देखता रहा । मौका पाते ही उसने वह गोली अपने ऊपर दाग ली ।

उस वीर बालक ने अपने प्रण को पूरा कर दिखाया । आज भी सारा संसार उस बालक के साहस और शौर्य की सराहना करता है । जिस देश में ऐसे वीर और राष्ट्र भक्त जन्म लेते रहे हों उसे अधिक समय तक दासता का जीवन नहीं जीना पड़ता और एक दिन ऐसा आया भी जब देशवासियों को स्वतंत्रता प्राप्त हुई ।

भारतीय सशस्त्र क्रान्ति के प्रथम विधायक
वासुदेव बलवंत फड़के

गुरिल्ला पद्धति द्वारा लड़ाई लड़कर सीमित संख्या में होते हुए भी गुरिल्ले विशाल सेनाओं को भी छका सकते हैं । चीन की जनता ने इसी पद्धति से पूर्व सरकार का खात्मा किया था । अन्य देशों में भी जहाँ की जनता ने शस्त्रों से आतताई अत्याचारी शासन व्यवस्था का खात्मा किया, यही युद्ध शैली अपनाई । हाल ही में वियतनाम और कम्बोडिया की मुक्ति का उदाहरण सामने है । इस रणनीति में नब्बे प्रतिशत गुररिल्ला पक्ष को जीतने की सम्भावना रहती है, अतः भारत में भी जिन दिनों अंग्रेजी राज था उन दिनों गुरिल्ला युद्ध द्वारा स्वतंत्रता प्राप्त करने के प्रयास चले । यह बात और है कि उन्हें सफलता नहीं मिल सकी । पर इतना निश्चित है कि अंग्रेजी शासन को समाप्त करने के लिए इन निष्ठावान देशभक्तों ने भी बहुत बड़ी और महत्वपूर्ण भूमिका निबाही थी ।

जिन लोगों ने गुरिल्ला युद्ध के माध्यम से भारत की स्वतंत्रता के लिए प्रयास किए उनमें से कइयों के तो नाम अज्ञात हैं । पर जिन लोगों के नाम समरण किए जाते हैं और यशोगान गाये जाते हैं उनमें सर्वाधिक श्रेय दिया जाता है-महाराष्ट्र के वासुदेव बलवंत फड़के को । कहा जाता है कि १८५७ की सैनिक क्रान्ति के बाद ब्रिटिश सरकार किसी से बुरी तरह आतंकित और भयभीत थी तो वह थे वासुदेव बलवन्त फड़के और उनकी गुरिल्ला टुकड़ियाँ । यहाँ तक कि उनका पता देने वाले के लिए भी काफी इनाम घोषित किया गया था ।

महाराष्ट्र के कोंकण क्षेत्र में एक छोटा सा गाँव है-शिरढोण । यह गाँव प्रकृति की गोद में बैठा एक नन्हा-सा शिशु लगता है । घाटियों के अलावा कोंकण प्रदेश वन और पर्वतों से भी घिरा हुआ है, वन और पर्वत ऐसे दुर्गम कि कोई व्यक्ति खो जाये तो वापस लौटने की राह भी न मिले । कुछ विशेष जातियाँ हैं जो वहाँ की मूल निवासी कही जाती हैं और इन वन पर्वतों की इंच-इंच जमीन से परिचित हैं । ये जातियाँ लूटमार और डकैती का काम करती हैं तथा जरायम पेशा भी हैं-ऐसा लोग मानते हैं पर साथ ही स्वामिभक्त, मैत्री धर्म को आखिरी सांस तक निभाने वाले और विश्वास पात्र भी होते हैं । जो भी हो, इसी भूभाग में शिरढोण गाँव में ४ नवम्बर १८४५ ई. को वासुदेव ने जन्म लिया । उनके पिता बलवंत राव उस क्षेत्र के सभी निवासियों द्वारा आदृत और सम्मानित व्यक्ति थे । कहा जाता है कि मुगल काल में उनके पूर्वज जागीरदार थे । उस समय का वैभव तो तब नहीं रहा था लेकिन प्रतिष्ठा और सम्मान में वह कुल उसी स्थान पर बना रहा । इसका एक कारण यह भी था कि पर दु:ख कातरता शायद उस कुल के सभी सदस्यों को संस्कारों के रूप में विरासत से मिलती थी । कोई भी दु:खी या विपदा का मारा उस परिवार में जाकर शरण पा लेता था । इसलिए लूटमार और डकैती करने वाले जरायम पेशा जाति के लोग भी फड़के परिवार को वही आदर देते थे जो वहाँ के आम आदमी ।

फड़के की प्रारम्भिक शिक्षा मराठी भाषा में हुई और फिर उन्होंने

थोड़ी बहुत अंग्रेजी भी पढ़ी । पर उनका मन पढ़ने-लिखने या स्कूल में नहीं लगता, शिरढोण क्षेत्र की प्राकृतिक सुषमा और 'रम्य घाटियाँ उन्हें अपने पास बुला लेतीं और वे घने जंगलों, घाटियों में घूमते रहते । वहाँ के देहाती और आदिवासी लोगों के बीच रहकर फड़के ने शरीर साधना की, खूब व्यायाम करने लगे और घुड़सवारी भी सीख ली । आगे की शिक्षा पूरी करने के लिए उन्हें पूना भेज दिया गया । उसी दौरान हुआ सन् ५७ का स्वतंत्रता संग्राम, जिसकी लपटें देश भर में फैलीं और जनमानस को आन्दोलित कर गईं । अंग्रेज सरकार की जड़ें भी इस क्रान्ति से हिल उठीं । क्रान्तिकारियों की कुछ गल्तियों और अंग्रेजी सेनाओं के आधुनिक साधनों-सामर्थ्यों के कारण यह क्रान्ति दबा दी गई और उसे सैनिक विद्रोह (गदर) का नाम दिया गया ताकि लोगों को उसकी स्मृति भी कोई अच्छे रूप में न रहे । सैनिक क्रान्ति तो विफल हो गई पर सरकार का भी यह दूसरा प्रयास सफल न हो सका ।

१८६० में फड़के बम्बई आ गये और वहाँ छोटी--मोटी नौकरियाँ करने लगे । तब उनका विवाह भी हो चुका था । पाँच वर्ष तक उन्हें इसी प्रकार अस्थाई नौकरियों से सन्तोष करना पड़ा तब कहीं जाकर उन्हें सैनिक वित्त विभाग में नौकरी मिली । तब तक फड़के पूर्ण वयस्क भी नहीं हो पाये थे, फिर भी वे सात-आठ वर्ष पूर्व घटी घटनाऐं सुनकर रोमांचित हो उठते । साथ ही यह भी अनुभव करते कि वस्तुतः अंग्रेज सरकार हमारे देश में अनधिकारिक रूप से शासनारूढ़ है । उन्हीं दिनों उनके जीवन में कुछ ऐसी घटनाऐं घटीं जिससे उनका मन अंग्रेजों के प्रति घृणा से भर उठा और उनके उतावले खून ने सशस्त्र क्रान्ति का रास्ता अपनाना ठीक समझा ।

जिन दिनों वे सैनिक वित्त विभाग में नौकरी करते थे उन्हीं दिनों उनकी माँ बीमार हुई । फड़के के पास इसकी सूचना पहुँची और माँ की यह आकांक्षा भी कि वे अपने लाड़ले को आखिरी बार देखना चाहती थी । उन्होंने अपनी विभागीय अधिकारी से इस प्रयोजन से छुट्टी माँगी । लेकिन गोरे अधिकारियों के लिए काले भारतीयों की भावनाओं का कोई

मूल्य नहीं था । फड़के ने काफी अनुनय विनय की ताकि किसी प्रकार अधिकारीगण राजी हो सकें लेकिन उन्हें छुट्टी नहीं देना था और न ही दी । आखिर विक्षोभ और आक्रोश से भरकर वे बिना अनुमति लिए ही अपनी माँ को देखने चल पड़े पर यह जानकर वे धक्क से रह गये कि उनके आने से पूर्व ही माँ उन्हें याद करती हुई दम तोड़ गई है ।

एक तो इस घटना ने फड़के को आक्रोश से भर दिया, दूसरे उस समय की देशकाल की परिस्थितियों ने । तब सन् ५७ का स्वतंत्रता संग्राम लड़ा जा चुका था और अंग्रेजों ने अपनी शासन नीति में कुछ इस प्रकार का परिवर्तन किया था जिससे जनता परेशान हो उठी थी । इस नीति का आधार यह था कि लोग कमाने और गुजारा करने में ही इस प्रकार व्यस्त रहें कि उन्हें राजनीति के विषय में सोचने का ही अवसर न मिले । इस नीति के कारण देश के अधिकांश भागों में अकाल जैसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी और महाराष्ट्र में तो और भी भयावह ।

इन्हीं दिनों फड़के गणेश जोशी तथा महादेव गोविन्द रानाडे जैसी समाज सेवी विभूतियों के सम्पर्क में आये और उनके राजनैतिक विचारों से प्रभावित हुए । रानाडे का तो उन पर ऐसा प्रभाव हुआ कि वे प्राय: उनके प्रत्येक व्याख्यान में उपस्थित रहते थे । आखिर १८७२ में उन्होंने आरम्भ किया अपना राजनैतिक जीवन । तब से उन्होंने स्वतंत्रता के विचार को गाँव-गाँव पहुँचाने का कार्य आरम्भ किया । वे अपने व्याख्यानों का प्रचार, व्यवस्था और आयोजन सब कुछ स्वयं ही करते । जिस गाँव में कार्यक्रम रखना होता वहाँ वे सुबह से ही पहुँच जाते और थाली बजा-बजाकर अपने व्याख्यान की घोषणा करते । सन्ध्या समय नियत समय नियत स्थान पर जो प्राय: चौराहे होते अपने ओजस्वी भाषण देते । इस समय वे यही प्रयोजन पूरा करने में लगे हुए थे कि किसी प्रकार सामान्य जनता में अंग्रेज सरकार के प्रति आक्रोश उत्पन्न किया जाय । अपने उद्देश्य की प्राप्ति हेतु अगली सीढ़ी के लिए वे स्वयं को तैयार कर रहे थे, जिसमें उन्होंने शस्त्र चलाना, घुड़ सवारी करना और अन्यान्य ऐसे अभ्यास करना आरम्भ किया जिससे कि भावी कार्यक्रमों

को पूरा किया जा सके । उनके बलिष्ठ शरीर और ओजस्वी विचारों ने हर स्थान पर अपना प्रभाव दिखाया ।

राजनीति में उतरने के चार वर्ष बाद महाराष्ट्र में भयानक अकाल पड़ा । कोंकण प्रदेश की तो बड़ी बुरी दुर्दशा हुई, वहाँ की सारी हरियाली सूख गई और नदी-नाले भी जलकर भाप बन उड़ गये । आदमी और जानवर भूख के मारे मरने लगे । इस अकाल के साथ महामारी का प्रकोप भी हुआ और लोग गाँव छोड़कर भागने लगे । अंग्रेज सरकार ने जिन हरे-भरे प्रदेशों से अपने राजकोषों को खूब भरा था, इस विकट परिस्थिति में वहीं की जनता की तकलीफों से मुँह फेर लिया । ऐसे समय में फड़के ने जनता का आह्वान किया-"लोगों को भूखों मरते चुपचाप देखने वाली सरकार को हम कब तक स्वीकार करेंगे । मरना वैसे भी है तो क्यों न बहादुरी की मौत मरा जाय ।" इस आह्वान को सुनकर, मौत को सामने खड़ा देखते हुए भी लोग आँखें मूँदकर उसे झुठलाने की कोशिश करने लगे ।

आह्वान को सुना वहाँ की मूल निवासी जातियों ने जिन्हें रोमोशि, धनगर और माँग कहा जाता है । इनके स्वभाव और पेशे का जिक्र आरंभ में कुछांश किया जा चुका है । फड़के ने उन्हें अपने साथ लिया और बताया कि हम पेट पालने के लिए सबकी पीर हरने के लिए, सरकार को लूटेंगे और उसे यहाँ से उखाड़ेंगे ताकि हम सब इज्जत की जिन्दगी बसर कर सकें । फड़के का उन पर प्रभाव तो था ही । अतः उन्होंने दो सौ हट्टे-कट्टे जवानों को चुना और एक सैनिक दल बनाया । इन दो सौ जवानों को भाले और तलवार के साथ बन्दूक चलाने का भी प्रशिक्षण दिया गया । २१ फरवरी १८७९ को एक प्रकार से उन्होंने परिवार से संन्यास ले लिया और पत्नी को घर भेजकर एक गाँव के पास गुफा में जाकर रहने लगे । अब आगे का कार्यक्रम तय किया गया उन लोगों को लूटना जिन्होंने अग्रेजों की कृपा दृष्टि से गरीब जनता का खून चूस-चूस कर अपनी तिजोरियाँ भरी हैं । इस लूट से गुरिल्ला टुकड़ियों के खर्च की व्यवस्था भी बनाई जाती और सैनिकों को आधुनिक शस्त्रास्त्रों से लैस

करने का प्रबन्ध भी किया जाता । यह दल एकदम इतना सक्रिय हो गया कि महीने भर के अन्दर इसने कई गाँवों में जमींदारों और शोषणकर्त्ताओं को लूटा, यही नहीं पुलिस थानों को भी नहीं बख्शा ।

सेना और पुलिस चौकन्नी हो गई । इधर फड़के ने पूना का सरकारी खजाना लूटने की योजना बनाई । लोग तो समझ रहे थे कि ये साधारण डकैत होंगे पर जब फड़के ने अपने घोषणा पत्र का सार्वजनिक प्रकाशन किया तो जनता दंग रह गई और सरकार भयभीत हो उठी । इस घोषणा पत्र में गुरिल्ला लड़ाई द्वारा अंग्रेजी सरकार को भारत से खदेड़ने तथा क्रान्तिकारी सरकार बनाने का विचार दर्शन और कार्यक्रम था । पुलिस अधिकारियों ने फड़के को गिरफ्तार करने तथा उनकी टुकड़ी को नष्ट करने का अभियान एक होशियार मेजर डेनियल को सौंपा । डेनियल अपने साथ कुछ सैनिक लेकर कोंकण प्रदेश के गाँव-गाँव में फैल गये और वहाँ के निवासियों को तंग करने लगे ।

पुलिस और सेना ने फड़के को जीवित या मृत पकड़ने वाले के लिए इनाम का इश्तहार छापकर गाँव-गाँव में चिपकाया और वहाँ पर अपने तम्बू ताने । पर उन्हें यह जानकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि दो चार दिनों बाद ही फड़के की क्रान्तिकारी सरकार ने बम्बई के गवर्नर, पूना के मैजिस्ट्रेट, सेशन जज और अन्य अंग्रेज पुलिस अधिकारियों के सर काट कर लाने वालों के लिए इनाम की घोषणा के इश्तहार उन सभी गाँवों में चिपकवा दिये ।

किसी प्रकार मेजर डेनियल को यह पता लग गया कि फड़के तथा उनके साथी तुलसी की घाटी में हैं । मेजर ने अपने विश्वसनीय जाँबाज सैनिकों को लेकर तुलसी घाटी को घेरा । फड़के तथा उनके साथियों को जैसे ही पता चला उन्होंने मुठभेड़ की और डेनियल को पीछे हटना पड़ा । उसने कई बार प्रयत्न किए पर सफलता नहीं मिली । गुरिल्ला-दल के पास सीमित मात्रा में ही मैगजीन हुआ करती थी । अतः लम्बे संघर्ष में दुर्भाग्यवश वह समाप्त हो गई और इस बार फड़के के साथियों को पीछे हटना पड़ा । इसके बाद फड़के कुछ समय तक शान्त रहे क्योंकि उनकी

शक्ति का काफी ह्रास हुआ था । इस शान्तिकाल में उन्होंने अपनी सेना का पुनर्गठन किया और पुनः सक्रिय हो गये । पुलिस और सेना को थोड़ा चैन मिला था कि फिर उसकी नींद हराम हो गई और मेजर डेनियल को ही फड़के से निबटने का दायित्व सौंपा गया ।

२० जुलाई १८७९ की रात । फड़के एक बौद्धमठ में विश्राम कर रहे थे । किसी प्रकार डेनियल को इसका पता चल गया और उसने फड़के को जाकर गिरफ्तार कर लिया । उन पर देशद्रोह का मुकदमा चला, मृत्यु दण्ड की संभावना थी पर एक विख्यात वकील महादेव आप्टे ने उनकी पैरवी कर मृत्यु दण्ड को काले पानी में बदलवा दिया । वहाँ भी उन्होंने जेल से भागने का प्रयास किया परन्तु असफल रहे । वहाँ कुछ दिनों बाद उन्हें क्षय रोग हो गया और १७ फरवरी १८८३ को सशस्त्र क्रान्ति का यह प्रथम विधायक सदा के लिए सो गया ।

महान जनसेवक

लाला लाजपतराय

जन-कल्याण और देशहित में अपना सर्वस्व बलिदान कर देने वाले महान् पुरुषों में पंजाब केशरी लाला लाजपतराय का एक विशिष्ट स्थान है । लाला लाजपतराय एक निर्धन परिवार के व्यक्ति थे । किन्तु आगे चलकर अपने अध्यवसाय के बल पर उन्होंने विद्या प्राप्त की, एक सफल वकील बने और खूब धन कमाया । लेकिन बाद में उन्होंने अपनी सारी विद्या-बुद्धि और सम्पत्ति देश-जाति के जागरण में ही लगा दी । अपने व्यक्तिगत जीवन में वे सदा सादे और सामान्य ढंग से ही रहते रहे । सारे सुखों और सारी सम्भावनाओं को छोड़कर वे आजीवन देश-धर्म की सेवा करते रहे और अन्त में स्वाधीनता के प्रयत्न में उन्होंने अपने प्राण तक उत्सर्ग कर दिये । लाला लाजपतराय का त्याग, बलिदान और जन-सेवा के कार्य सदा-सर्वदा स्मरणीय बने रहेंगे ।

कॉंग्रेस के माध्यम से देश की सेवा करने के अतिरिक्त लाला लाजपतराय ने जन-हित की अन्य और भी दिशाओं में अपनी सेवायें समर्पित की हैं । पंजाब डी. ए. वी. कालिज और उसकी शाखा प्रशाखाओं के विस्तार में लाला लाजपतराय का प्रमुख हाथ रहा है । उन्होंने प्राथमिक शिक्षा का प्रसार करने के साथ-साथ एक राधाकृष्ण हाईस्कूल की स्थापना कराई और इन शिक्षा-संस्थाओं में अवैतनिक अध्यापन कार्य भी किया ।

सामान्य शिक्षा प्रसार के साथ-साथ उन्होंने स्त्रियों और अछूत बालकों के लिए भी अनेक पाठशालाऐं स्थापित कराईं और उनका व्यय भी अपने पास से दिया । अछूतों के उद्धार और सुधार के लिए उन्होंने न केवल प्रचार ही किया बल्कि चालीस हजार रुपये नकद अनुदान देकर अपनी सच्ची सेवा भावना प्रकट की । उन्होंने एक अखिल भारतीय अछूतोद्धार कमेटी बनाई और उसके कार्यकर्त्ताओं की सहायता से अछूतों की सेवा के कार्यक्रम चलाए । गुरुकुल काँगड़ी में अछूतों का एक अखिल भारतीय सम्मेलन बुलाकर उनकी समस्याओं पर विचार किया ।

कॉंग्रेस द्वारा हिन्दू हितों की रक्षा न होते देखकर लाला लाजपतराय ने हिन्दू महासभा की स्थापना की और बहुत समय तक उसकी अध्यक्षता करते रहे । इसके अतिरिक्त उन्होंने 'पंजाब शिक्षा संघ, तिलक स्कूल आफ पालिटिक्स' आदि संस्थाओं की भी स्थापना की। जिस समय वे कॉंग्रेस मिशन पर इंग्लैण्ड गए उस समय उन्होंने योरप के अन्य देशों में भारतीय हित का प्रचार करने के साथ-साथ 'इण्डियन इन्फारमेशन ब्यूरो' की स्थापना की और 'यंग इण्डिया' एवं 'पोलिटिकल फ्यूचर आव् इण्डिया' आदि अनेक महत्वपूर्ण पुस्तकें लिखीं ।

लाला लाजपतराय ने भारतीय स्वतंत्रता के हित में असहयोग, स्वदेशी, बहिष्कार आदि सभी आन्दोलनों में भाग लिया, जिसके कारण उन्हें न केवल देश की जेलों में वर्षों तक यातना सहनी पड़ीं अपितु देश निकाला पाकर माँडले की नारकीय जेलों में रहना पड़ा ।

बंग-भंग आन्दोलन के समय लाला लाजपतराय ने अपने प्रचार द्वारा सारे देश में आग ही लगा दी और उसके बाद तो साइमन कमीशन के बहिष्कार । आन्दोलन में उन्होंने पुलिस की लाठियों का लक्ष्य बनकर अपने प्राण ही दे दिये ।

इस प्रकार देश-जाति के हित में अपना जीवन और प्राण उत्सर्ग करने वाले लाला लाजपतराय ने उत्तर भारत के अकाल, राजपूताना के दुर्भिक्ष और काँगड़ा के भूकम्प के समय जो सेवाऐं कीं उसके लिए तो शत्रु सरकार ने भी उनकी प्रशंसा की थी । उन्होंने आपत्ति पीड़ितों की सेवा-सहायता में दिन-रात एक कर दिया और तब तक चैन की श्वांस न ली जब तक जनता का कष्ट दूर न हो गया । इस प्रकार जनसेवा में अपना सर्वस्व दे देने वाले लाला लाजपतराय हमारी सबकी श्रद्धा के पात्र हैं ।

स्वतंत्रता संग्राम का नन्हा सैनिक योगेन्द्रनाथ

"हिन्दुस्तान रिपब्लिकन पार्टी" की चटगाँव शाखा ने स्थानीय शस्त्रागार पर आक्रमण करने व उस पर अधिकार करके चटगाँव में एक ऐसा शौर्यपूर्ण उदाहरण प्रस्तुत करने की योजना बनाई जिससे स्वतंत्रता आन्दोलन को बल मिले, अंग्रेज भयभीत हों और दूसरे क्रान्तिकारियों के हौसले बुलन्द हो जाँय ।

दल के सबसे छोटे किन्तु सक्रिय सदस्य योगेन्द्र का उस अभियान में भाग लेने वाले सदस्यों में नाम नहीं था । उसे यह जानकर बड़ा दुख हुआ । उसे कम आयु का समझकर दल के नेता सूर्य सेन जिन्हें दल के लोग 'मास्टर दा' के नाम से पुकारते थे, ने उसे इस जान पर खेलने वाले काम के उपयुक्त न समझा था । मास्टर दा ने यह निर्णय सोच समझकर ही किया था किन्तु योगेन्द्र यह कब समझता था । देश प्रेम की वारुणी

पीकर उसकी रक्त वाहिनियों में जो ज्वार आयु परिपक्व होने के पूर्व ही उठ खड़ा हुआ था वह भला कब रुकने वाला था। उसे यह निर्णय अपनी निष्ठा का-भावना का अपमान लग रहा था। उसने निश्चय कर लिया कि वह भी इस अभियान में भाग लेगा।

योगेन्द्र की उम्र भी क्या थी। अभी उसे चौदहवाँ वर्ष लगा था। स्थानीय हाईस्कूल में वह नवीं कक्षा में पढ़ता था। बाल सुलभ चंचलता और हठ अभी गया नहीं था। किन्तु वह इस आयु में भी पूरा निडर, निर्भीक था। उसी कारण उसे जरा-सी चूक पर जान से हाथ धो बैठने वाला यह अभियान भी एक खेल ही लग रहा था जो खिलौनों की पिस्तौलों-बन्दूकों से नहीं सच्ची पिस्तौलों व बन्दूकों से खेला जाने वाला था।

वह अपने दल में "टेगरा" के नाम से जाना जाता था। उसकी अल्पायु और नटखटपन के कारण दल के अन्य सदस्यों ने उसे यह नाम दे दिया था। यों दल के सदस्य अनन्तसिंह, गणेश घोष, अम्बिका चक्रवर्ती, लोकनाथ, प्रीतिलता, कल्पना दत्त आदि सब किशोर ही थे। दल के नेता सूर्यसेन को छोड़कर शेष की आयु १७-१८ वर्ष के आसपास ही थी। वह सबसे कम आयु का था।

बालकों को जैसा वातावरण मिलता है, वे वैसे ही बन जाते हैं। बंगभूमि इन दिनों क्रान्तिकारियों की भरपूर फसल उगा रही थी। उसके बड़े भाई परिवार का खर्च चलाने के लिए व्यवसाय करते थे। मंझले लोकनाथ क्रान्ति दल के मुख्य सदस्य थे। उन्हीं का अनुकरण वह भी कर रहा था ऐसी स्थिति में वह अपने आपको देश का नन्हा सिपाही समझने लगे और उसके हृदय में अपने आपको आजादी के लिए न्योछावर करने की उमंगें उठने लगे तो आश्चर्य की बात ही क्या? इस आयु में व्यक्तित्व जितना निर्माण होता है उतना फिर नहीं। अतः राष्ट्र निर्माण व समाज निर्माण का आधार नयी पौध से ही आरम्भ होना चाहिए। इसके लिए पारिवारिक वातावरण को वैसा बनाना भी आवश्यक होता है।

योगेन्द्र के भाई लोकनाथ का नाम अभियान दल में भाग लेने वालों में से था । अतः वह अपने भाई की निगरानी करने लगा । लोकनाथ निश्चित समय पर योजना के कार्यान्वयन के लिए चला तो योगेन्द्र भी उसके पीछे चल दिया । वे लोग काँग्रेस हाउस में एकत्रित हुए जहाँ मास्टर दा ने उन्हें भावी युद्ध सम्बन्धी निर्देश दिये । नन्हें टेगरा को वहाँ आया देखकर वे कुछ देर तक सोच में पड़ गये, उसे साथ ले जायें या न ले जायें । अन्त में उसे वापस भेजना खतरनाक समझकर साथ लेना ही उचित समझा गया क्योंकि बालक की भावनाओं पर चोट पड़ने पर वह अपने अपरिपक्व मस्तिष्क से जाने क्या प्रतिक्रिया कर बैठे । इस प्रकार योगेन्द्र भी उस अभियान में सम्मिलित कर लिया गया । उसे लूटे हुए हथियार समेटने का काम सौंपा गया ।

सत्तर क्रान्तिकारियों के इस दल में जिसमें अधिकांश अल्पवयस्क ही थे, ने चटगाँव के शस्त्रागार पर आक्रमण कर दिया । चार दलों में बँटकर वे अपनी योजना को मूर्तरूप देने लगे । लोकनाथ, निर्बल सेन, गणेष घोष तथा अम्बिका चक्रवर्ती ये अपने-अपने दल के नायक थे । १८ अप्रैल १९३० को अल्प संख्या में होते हुए भी थोड़े से हथियारों से लैस इन क्रान्तिकारियों ने चटगाँव शस्त्रागार पर अधिकार कर लिया । अंग्रेज सरकार के हथियारबन्द प्रशिक्षित सैनिक इनके आगे हार गये क्योंकि एक ओर वेतन भोगी रक्षक थे तो दूसरी ओर सिर पर कफन बाँध कर निकले देश भक्त ।

शस्त्रागार पर अधिकार करने के पश्चात क्रान्तिकारियों ने रेल, डाक, तार टेलीफोन व्यवस्था भंग कर चटगाँव का शेष भारत से सम्बन्ध तोड़ दिया । अब चटगाँव अंग्रेजों के आधिपत्य से बाहर था । वहाँ क्रान्तिकारी दल का अधिकार था ।

अंग्रेज सरकार के अधिकारियों को जब इस बात की सूचना मिली तो वे हतप्रभ रह गये । सारे देश में तहलका मच गया । शस्त्रागार में जितने हथियार क्रान्तिकारियों के काम लायक थे वे उन्हें ले गये और शेष गोला बारूद को उन्होंने आग के भेंट कर दिया । ब्रिटिश सरकार ने

चटगाँव उनसे वापस लेने के लिए एक बड़ी सेना भेजी ।

इतनी बड़ी सेना से जूझने के लिए क्रान्तिकारियों ने उपयुक्त स्थान जलालाबाद की पहाड़ियों पर मोर्चा लगाया । ब्रिटिश सेना ने जलालाबाद की पहाड़ियों को घेर लिया । क्रान्तिकारी इसके लिए तैयार ही थे । २२ अप्रैल १९३० के दिन वह ऐतिहासिक युद्ध हुआ जिसमें योगेन्द्र की अपनी मनोकामना पूर्ण हुई, बड़ा ही विषम संग्राम था । एक ओर मुट्ठी भर युवक और दूसरी ओर ब्रिटिश सेना के खूंखार अंग्रेज सिपाही । फिर भी जमकर युद्ध हुआ । क्रान्तिकारी एक-एक करके धराशायी होते जा रहे थे । पहले ही दौर में योगेन्द्र को गोली लग गई । फिर भी उसने न होश खोया न साहस । वह चौदह वर्ष का किशोर रायफल कन्धा से अड़ाये मोर्चे पर डटा रहा । अपने साथियों का सफाया होते देखकर क्रान्तिकारी एक-एक करके क्रान्ति की वह्नि को और भी उग्र करने के लिए सुरक्षित स्थल की ओर खिसकने लगे । जो लोग घायल थे वे मोर्चे पर डटे रहे । योगेन्द्र के घाव से बराबर रक्त रिस रहा था फिर भी वह गोलियाँ चलाता ही रहा । अन्त में जब मोर्चे पर डटे हुए घायल लोग भी बच निकलने के लिए पीछे हटने लगे तब तक घायल योगेन्द्र में उठने की शक्ति भी नहीं थी । अतः वह मोर्चे पर ही डटा रहा और उसने उस आजादी की भावना को प्रज्ज्वलित रखने के लिए अपनी बलि दे दी जो मनुष्य का प्रथम अधिकार है ।

उस युद्ध में कितने ही क्रान्तिकारी मारे गये थे । उनसे दुगने फौजी सिपाही मरे थे । बहुत अधिक रक्त बह जाने के कारण अपने अन्तिम क्षणों में योगेन्द्र को जोरों की प्यास लग आई थी । वह अपने भाई से पानी माँगने को ही था कि उसे अपने 'मास्टर दा' की वह बात याद आ गई-"क्रान्तिकारी को किसी प्रकार की कमजोरी नहीं दिखानी चाहिए ।" और वह चुप लगा गया ।

मातृभूमि का वह नन्हा वीर सिपाही मरकर अमर हो गया । उसका यह बलिदानी जीवन किशोरों, युवकों को बताता है कि देश और समाज की भीषणतम समस्याओं से जूझने के लिए उन्हें सभी प्रकार के

बलिदान देने के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए । राजनैतिक स्वतंत्रता भारत पा चुका है किन्तु अभी आर्थिक, नैतिक, बौद्धिक स्वतंत्रता के लिए देश को ऐसे कितने ही सिपाही चाहिए ।

त्याग और बलिदान के आदर्श
गणेश शंकर विद्यार्थी

सन् १९३१ का दिसम्बर का महीना था, कानपुर में अकस्मात् हिन्दू-मुस्लिम दंगा भड़क उठा और उसने ऐसा भयंकर रूप धारण कर लिया कि चार दिन में एक हजार से अधिक व्यक्ति मारे गये । हिन्दू-मुसलमान दोनों एक-दूसरे के खून के प्यासे हो रहे थे । मुसलमान मुहल्लों में हिन्दू कत्ल किए जाते थे और हिन्दुओं की प्रधानता वाले क्षेत्र में मुसलमानों की खैर नहीं थी । रास्ते से निकलना कठिन था क्योंकि जगह-जगह उपद्रवियों के दल कोई शिकार खोजने के लिए खड़े रहते थे । ऐसे समय में अच्छे-अच्छे जवाँमर्दों की हिम्मत दंगे को रोकने का कोई प्रयत्न करने की नहीं होती थी । और तो क्या, शान्ति की रक्षा की ठेकेदार पुलिस भी अकर्मण्य हो गई थी । वह भी दंगाग्रस्त क्षेत्रों में घुसना अपने लिए खतरनाक समझ रही थी ।

ऐसे समय में कानपुर के जननेता श्रीगणेश शंकर विद्यार्थी, जो तभी जेल से छूटकर आये थे और कराँची काँग्रेस में जाने की तैयारी कर रहे थे, दंगे की खबर सुन कर चौकन्ने हो गये । उन्होंने कहा कि हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित करना काँग्रेस का ध्येय है और आज ये दंगा करने वाले उसको नष्ट करने पर तुले हुए हैं । ऐसे समय में, शहर को दंगे की हालत में छोड़कर काँग्रेस में जाने का क्या अर्थ हो सकता है ? बस उन्होंने अपनी यात्रा स्थगित कर दी और दंगे की आग को बुझाने में लग गये । पहले ही दिन उन्होंने कई सौ मुसलमानों को हिन्दुओं के मोहल्लें से हटाकर मुसलमानी बस्तियों में पहुँचा दिया । दूसरे दिन भी

यही काम कर रहे थे कि किसी ने आकर खबर दी कि मिश्री बाजार में बहुत से हिन्दू परिवार मुसलमानों से घिरे पड़े हैं । वे दो स्वयं-सेवकों को जिनमें एक हिन्दू और एक मुसलमान था, लेकर चल दिए । वहाँ की हालत बड़ी भयंकर हो रही थी । उन्होंने दस-पाँच व्यक्तियों की रक्षा भी की, पर शाम को ४ बजे उनको मुस्लिम उपद्रवकारियों की एक भीड़ ने घेर लिया और मारने लगे । साथ के मुसलमान स्वयं सेवक ने बहुत समझाया कि इन्होंने तो आज ही १५०-२०० मुसलमानों की जान बचाई है, पर वे तो उस समय पशु से बदतर बन रहे थे । किसी व्यक्ति ने, उनको बचाने के लिए वहाँ से हटाने की चेष्टा की पर विद्यार्थी जी ने कहा-"क्यों घसीटते हो मुझे ! मैं भागकर जान नहीं बचाऊँगा । एक दिन मरना तो है ही । अगर मेरे मरने से ही इन लोगों का दिल ठण्डा होता है, तो अच्छा है कि मैं यहीं कर्तव्य का पालन करते हुए आत्म-बलिदान कर दूँ ।" उस समय एक तरफ देवत्व और दूसरी तरफ दानवता की भावनाओं का दृश्य देवताओं के लिए भी दुर्लभ था । वे विद्यार्थी जी पर टूट पड़े और तरह-तरह के हथियारों से उनके दुबले-पतले शरीर को क्षत-विक्षत करके निर्जीव कर दिया ।

उन नरतनधारी भेड़ियों ने तो सोचा होगा कि हमने एक हिन्दू को मार कर बहुत बड़ी फतह हासिल कर ली, पर वे नहीं जानते थे कि विद्यार्थीजी की इस तरह हत्या करके उन्होंने उनको अमर बना दिया । अगर वे दस-बीस वर्ष बाद अपनी स्वाभाविक मौत से मरते तो उनका नाम और प्रभाव आज की अपेक्षा आधा-चौथाई भी न होता । पर इस तरह की मृत्यु ने उनको देव दुर्लभ पदवी प्रदान कर दी । इस घटना का समाचार पाकर महात्मा गाँधी जी ने लिखा-

"गणेश शंकर की मृत्यु पर यद्यपि हृदय खून के आँसू रोता है, पर इस शानदार अन्त पर शोक प्रकट करने को जी नहीं चाहता । हम सबको गणेशशंकर बनना चाहिए । गणेश शंकर की तरह आप में से एक-एक आदमी अपना शान्ति दल बना सकता है, पर सवाल यह है कि विद्यार्थी जी जैसे कितने आदमी हैं ? वह भले ही मर गये लेकिन

उनकी आत्माहुति व्यर्थ नहीं गई । मुझे जब उनकी याद आती है तो उनसे ईर्ष्या होती है । मैं भी चाहता हूँ कि उन्हीं की तरह प्रहार सहता हुआ मरूँ । चारों तरफ से एक मुझ पर कुल्हाड़ी चला रहा हो, दूसरा बरछी से छेदता हो, तीसरा लाठी मार रहा हो, चौथा लात घूँसे बरसाता जाता हो । ऐसी अवस्था में भी शान्त रहूँ, अन्य लोगों से शान्त रहने को कहूँ और स्वयं हँसता हुआ मरूँ, ऐसा भाग्य मैं चाहता हूँ । गणेश शंकर को ऐसा ही मौका मिला, इसलिए उनकी याद आने पर ईर्ष्या होती है कि क्यों नहीं मुझे वह मौका मिलता ?''

पं. जवाहरलाल नेहरू ने कराँची में जब यह समाचार सुना तो लिखा-''मेरा दिल बैठ गया, आँखों के आगे अँधेरा छा गया और यकीन नहीं आया कि गणेश शंकर गुजर गये । काँग्रेस की भीड़ में सन्नाटा छा गया । लेकिन रंज की क्या बात है गणेश शंकरजी जैसे जिए वैसे ही मरे । इससे बढ़कर कोई और क्या माँग सकता है कि अपने भाइयों और देश सेवा के लिए मौत का सामना कर सके और गणेश शंकरजी की तरह मरे ।''

कराँची काँग्रेस ने उसी समय निम्न प्रस्ताव पास किया-

''कानपुर के दंगों में युक्त प्रान्तीय काँग्रेस कमेटी के अध्यक्ष श्री गणेश शंकर विद्यार्थी की जो मृत्यु हुई, उसके लिए काँग्रेस को अत्यन्त दुख है । विद्यार्थी जी अत्यन्त त्यागी देश सेवकों में से थे और साम्प्रदायिक भावना से सर्वथा मुक्त होने के कारण सभी दलों और सम्प्रदायों के प्रिय बन गये थे । उनके परिवार वालों के प्रति संवेदना प्रकट करते हुए काँग्रेस इस बात पर गर्व करती है कि उसके एक प्रथम श्रेणी के कार्यकर्त्ता ने खतरे में पड़े लोगों की रक्षा की और शान्ति स्थापना के प्रयत्न में अपने को बलिदान कर दिया ।''

और तो क्या संयुक्त प्रान्त की सरकारी कौंसिल ने विद्यार्थी जी के आत्मोत्सर्ग पर एक प्रस्ताव पास किया और प्रान्त के गवर्नर सर माल्कम हेली ने उनकी प्रशंसा करते हुए शोक प्रकट किया । जो अंग्रेजी सरकार निरन्तर विद्यार्थी जी के दमन का प्रयत्न करती रहती थी, उसी के सर्वोच्च

अधिकारी ने विद्यार्थी जी का इस प्रकार सम्मान किया, यह साधारण बात नहीं है । जिन विद्यार्थी जी को आरम्भिक समय में पढ़ाई की पुस्तकें तथा फीस आदि के अभाव में अध्ययन छोड़कर बीस रुपये की नौकरी के लिए महीनों चक्कर काटने पड़ते थे, मरणोपरान्त उनके लिए राजा से लेकर रंक तक के द्वारा इस प्रकार श्रद्धांजलि दिया जाना सिद्ध करता है कि मनुष्य का सम्मान धन और पदवी से नहीं उसके गुणों और सत्कर्मों से ही होता है । जो व्यक्ति जन्म भर एक तंग गली में बने साधारण मकान में गुजारा करता रहा, उसके देश सेवा में बलिदान, हो जाने के बाद कानपुर के सर्वश्रेष्ठ उद्यान का नामकरण उनके नाम पर "गणेश शंकर विद्यार्थी पार्क" रखा गया और जिस चबूतरे पर अनेक वर्षों से महारानी विक्टोरिया की मूर्ति लगी थी उस पर उनकी मूर्ति स्थापित की गई ।

इस प्रकार विद्यार्थीजी अपने आत्म-बलिदान द्वारा स्वयं ही अमर नहीं हो गये, वरन् अन्य लोगों के लिए भी ऐसा मार्ग-दर्शन कर गये जिस पर चल कर वे भी अपने जीवन को सार्थक कर सकें । हम देश और समाज की सेवा के लिए प्रथम तो आगे कदम ही नहीं बढ़ाते और यदि कुछ साहस भी किया तो जरासा खतरा आते ही भाग खड़े होते हैं । विद्यार्थीजी जैसे त्यागी और बलिदानियों के उदाहरण से हम सेवा मार्ग की महानता को कुछ अंशों में तो समझ ही सकते हैं और अनुसरण कर सकते हैं ।

विद्यार्थी जी के चरित्र का दूसरा अत्यन्त महत्वपूर्ण पहलू यह है कि उन्होंने बड़ी गरीबी और अभावग्रस्तता का जीवन व्यतीत करते हुए केवल अपने आन्तरिक गुणों से महानता की इस पदवी को प्राप्त किया था । उनके पिता श्री जयनारायण जी ग्वालियर रियासत में एक ग्रामीण मिडिल स्कूल के मास्टर थे । उनको वेतन बहुत थोड़ा मिलता था । इसलिए वे गणेशशंकर जी को केवल आठ दर्जे तक की शिक्षा अपने पास रख कर दिला सके । सन् १९०५ में जब उन्होंने मिडिल पास कर लिया तो उनसे कहा गया कि वे कानपुर अपने भाई के पास जाकर कुछ

काम तलाश करें, क्योंकि आगे की शिक्षा का भार उठा सकना पिता के लिए सम्भव न था। उस समय गणेश जी की आयु केवल १५ वर्ष की थी।

कानपुर पहुँचने पर भाई से बातचीत होने पर निश्चय हुआ कि वे कम से कम मैट्रिक तो पास कर ही लें जिससे साधारण नौकरी मिल सके। इस प्रकार भाई की आर्थिक सहायता से वे दो वर्ष और पढ़ सके और मैट्रिक हो गये। फिर इण्टर की पढ़ाई के लिए स्वेच्छा से इलाहाबाद के कायस्थ पाठशाला कालेज में नाम लिखाया पर कठिनाई से ६-७ महीना ही उसमें रह सके। घर की आर्थिक समस्या को हल करने के लिऐ नौकरी करना आवश्यक हो गया था। इस पर कानपुर चले आये और बहुत दौड़धूप करने के पश्चात् करन्सी आफिस में ३० रुपये मासिक पर क्लर्क हो गये।

पर विद्यार्थी जीवन से ही उनमें साहित्य और राजनीति की लगन पैदा हो गई थी। इसलिए दफ्तर के काम से जब समय मिलता तो कोई पुस्तक या समाचार पत्र पढ़ने लग जाते। एक दिन वहाँ के अंग्रेज अफसर ने उन्हें पढ़ते देख लिया और ऐसा न करने का आदेश दिया तो आपने नौकरी से स्तीफा दे दिया। फिर कोशिश करके पृथ्वीनाथ स्कूल में बीस रुपया मासिक की मास्टरी कर ली पर वहाँ भी स्कूल के भीतर राजनीतिक अखबार पढ़ने से उन्हें रोका गया तो पुनः नौकरी छोड़ दी। अब आपने साहित्यिक कार्य करने का निश्चय किया और 'सरस्वती' के सम्पादक श्री महावीर प्रसाद जी द्विवेदी के पास दो वर्ष तक रहकर सहायक सम्पादक की हैसियत से काम करते रहे जिससे आपको पत्रकारिता और भाषा का अच्छा ज्ञान हो गया। कुछ समय तक इलाहाबाद के 'अभ्युदय' पत्र में भी काम किया। पर वह नर्म दल की राजनीति का अनुयायी था और इनके विचार गर्म दल के तथा क्रान्तिकारी थे, इसलिए अन्त में अपना स्वतंत्र पत्र निकालना ही आवश्यक जान पड़ा और सन् १९१३ में कानपुर के कुछ मित्रों के सहयोग से 'प्रताप' (साप्ताहिक) का प्रकाशन आरम्भ कर दिया।

कार्य करने का स्वतंत्र क्षेत्र पाकर विद्यार्थीजी का व्यक्तित्व चमका । कुछ ही महीनों में उन्होंने 'प्रताप' को हिन्दी संसार का मूर्धन्य पत्र बना दिया । जहाँ देखो उसके गर्म और क्रान्तिकारी लेखों की चर्चा सुनाई पड़ती थी । वह अन्याय पीड़ितों का सबसे बड़ा सहायक था और देशी रियासतों में होने वाले अन्धेर खाते की विशेष रूप से पोल खोला करता था । पर इन कारणों से उस पर आरम्भ से ही प्रहार होने लग गये । कितनी ही रियासतों में उसका जाना रोक दिया गया, कई बार तलाशी और जेल जाने की नौबत आई । मुकदमे चले और जेल तथा जुर्माने की सजा भुगतनी पड़ी । पर विद्यार्थी जी देश सेवा के मार्ग पर अटल रहे । शीघ्र ही वे स्वतंत्रता-संग्राम के वीर सेनानी के रूप में प्रसिद्ध हो गये और उनसे प्रेरणा लेकर हजारों अन्य युवक भी कर्म-क्षेत्र में आगे बढ़ने लगे ।

'प्रताप' पर सबसे प्रसिद्ध और बड़ा मुकदमा सन् १९२१ में चला जब उसने किसानों की एक बड़ी भीड़ पर रायबरेली जिले के एक तालुकेदार वीरपालसिंह द्वारा गोली चलाये जाने पर जोरदार आन्दोलन उठाया । वीरपालसिंह ने बदनामी से बचने के लिए विद्यार्थीजी पर मुकदमा चला दिया । इनकी तरफ से पं. मोतीलाल नेहरू और जवाहरलाल जी जैसे महान् व्यक्तियों ने गवाहियाँ दीं पर अदालत ने तीन मास की सजा सुना ही दी । उसी समय जनता में राजद्रोह की भावना भड़काने का दोषारोपण करके 'प्रताप' से तीस हजार की जमानतें और मुचलके माँगे गये । जब इससे भी काम न चला तो 'क्रिमिनल एमेडमेंट एक्ट' का प्रयोग करके छः महीने तक 'प्रताप' का प्रकाशन रोक दिया । इस प्रकार राष्ट्रीय स्वतंत्रता के आन्दोलन में विद्यार्थीजी ने एक के बाद एक जितने सरकारी और रियासती प्रहार सहे, उसका दूसरा उदाहरण मिल सकना सम्भव नहीं ।

असहयोग आन्दोलन में भी विद्यार्थीजी ने बढ़ चढ़ कर भाग लिया था । शीघ्र ही वे काँग्रेस के एक प्रमुख नेता बन गये और देशोद्धार के लिए हर प्रकार का कष्ट सहन और त्याग करने से उनका नाम और

प्रभाव चारों तरफ फैल गया । आपका यह सेवा-भाव दिन प्रति दिन अधिक ही होता गया । अन्त में आपने उसी के लिए अपने प्राण अर्पण करके एक प्रकार से 'देश सेवा यज्ञ' की पूर्णाहुति कर दी ।

विद्यार्थीजी का पार्थिव शरीर नष्ट हो गया पर उनका यश शरीर आज तक देदीप्यमान है और वह अगामी अनेक वर्षों तक अनगिनती लोगों को प्रकाश देता रहेगा । आत्म-त्याग की ऐसी ही महिमा है ।

एक वीर हुतात्मा-स्वामी श्रद्धानन्द

मुन्शीराम तथा स्वामी श्रद्धानन्द । ये एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं किन्तु दोनों में अन्तर उतना ही है, जितना एक तख्ते के दोनों तरफ के ऐसे पाटों में, जिन्हें एक ओर काला तथा दूसरी ओर सफेद पोत दिया गया हो ।

स्वामी जी का नाम पहले मुन्शीराम था । वे अपने प्रारम्भिक जीवन में बड़े ही कुमार्गगामी थे । सुरापान से लेकर वेश्यागमन तक सारे ही दुर्गुण इनमें थे । पिता कोतवाल थे । किसी प्रकार की रोक-टोक अथवा समस्या का कोई प्रश्न ही न था ।

कहते हैं कालिदास को विद्वान कवि तथा मनीषी बनाने का श्रेय उनकी पत्नी विद्योत्तमा को जाता है । इसी प्रकार सन्त तुलसीदास भी पत्नी की प्रताड़ना अथवा सदुद्बोधन के फलस्वरूप ही 'रामबोला' से सन्त तुलसीदास बनकर मानस जैसे महाकाव्य का प्रणयन करने योग्य बन सके ।

स्वामी श्रद्धानन्द की पत्नी भी इसी श्रेणी की देवी थीं । नाम था शिवदेवी । त्याग, सेवा, नम्रता, उदारता, सहिष्णुता तथा क्षमाशीलता की साकार प्रतिमा । भारतीय नारीत्व की जीती-जागती मूर्ति ।

उनका यह नियम था कि कभी भी स्वामी जी घर लौटें, भोजन गरम बनाकर ही खिलातीं और खा लेने के पश्चात् ही खातीं ।

एक दिन की बात है । स्वामी जी लौटे थे-रात के दो या तीन बजे, नृत्य संगीत की सभा-से । गाड़ी से उतर कर अन्दर आते ही जोर की कै हुई । दो कोमल हाथ सहारा दिए अन्दर ले आये । वस्त्र बदलवा कर लिटा दिया । वे सो गये परन्तु शिवदेवी पैर दबाती रहीं-सिर दबाती रहीं। काफी देर बाद आँख खुलीं। इस समय वस्तुतः उनके चर्मचक्षु ही नहीं ज्ञान चक्षु भी खुले थे । देखा सिगड़ी जल रही है । आटा गूँथा रखा है । पत्नी की ओर दृष्टि गई । पैर दबाते-दबाते बैठी ही बैठी सो गई थीं ।

यही दिन स्वामी जी के जीवन का वह दिन है जब उनकी सोई हुई आत्मा जागी और उन्होंने यह विचार किया कि मैं कहाँ हूँ और मुझे कहाँ होना चाहिए ।

आँखों में आँसू आ गये, हृदय चीत्कार कर उठा । मन पश्चात्ताप की अग्नि में जलने लगा । मस्तिष्क ने गिरे हुए जीवन से बगावत कर दी ।

सोचा-"मेरे कारण न जाने कितनी रातें इसे यों ही भूखे सो जाना पड़ा होगा और मैं ? ओह ईश्वर ! तेरी आचार संहिता में जो भी दण्ड प्रधान हो-कड़े से कड़ा दण्ड देना मुझे ।"

उसी दिन से वे अपनी समस्त दुर्बलताओं को तिलांजलि दे बैठे और जीवन की दिशा मुड़ी तो ऐसी मुड़ी कि फिर पीछे की ओर मुड़कर भी न देखा । विवेक का दिनमान उगा तो फिर ऐसा-कि तमिस्रा को चीरता हुआ गगन की छाती पर चढ़ता ही गया ।

अब उनका एक ही पथ था-समाज-सेवा । एक ही लक्ष्य था लोक-कल्याण । उस समय का सबसे बड़ा युग धर्म था-भारत को अंग्रेजों की दासता से मुक्त करना । सो एक वीर सेनानी की भाँति स्वतंत्रता आन्दोलन में कूद पड़े । अच्छी खासी चलती हुई वकालत को छोड़ा । जज के पद के आकर्षण को कच्चे धागे की भाँति तोड़ दिया ।

वर्षों काम किया अपनी भारत माँ की बेड़ियाँ काटने के लिए । इसके लिए उनकी लेखनी ने भी ऐसा काम किया कि लोग लेख पढ़ते और अपनी जीवन दिशा बदलने की प्रेरणा ग्रहण करते । ब्रिटिश सरकार

द्वारा बनाये गये "रालेट ऐक्ट" के विरुद्ध दैनिक विजय में आपके पाँच लेख 'छाती पर पिस्तौल' शीर्षक से निकले थे । उन्होंने तहलका मचा दिया था ।

उन दिनों आप 'आर्य संन्यासी' के नाम से विख्यात थे । दिल्ली शहर में स्वामी जी का इतना प्रामुख्य था कि आपकी एक आवाज पर लाखों स्वयंसेवक अपनी जान हथेली पर लिए तैयार रहते थे । सब उन्हें दिल्ली का बेताज का बादशाह कहते थे ।

तीस दिसम्बर सन् १९२९ का दिन दिल्ली तथा स्वातन्त्र्य संग्राम-दोनों के इतिहास में अविस्मरणीय है । स्वामी जी के नेतृत्व में सफल हड़ताल रखी गई और जब मालूम हुआ कि पुलिस की गोलियों ने अगणित युवकों का रक्त पी लिया है तो सम्पूर्ण दिल्ली ने खून के आँसू बहाये । स्वामी जी का तो जैसे हृदय ही किसी ने छेद दिया हो ।

परेड के मैदान में सभा आयोजित हुई । डिप्टी कमिश्नर ने धारा १४४ घोषित कर दी । स्वामी जी से कहा गया-"सभा भंग कर दें ।"

किन्तु सभा भंग करने का अर्थ था लहराते जन-समुदाय की भावनाओं को उत्तेजित करना । कमिश्नर स्वामी जी के प्रभाव को जानता था । सभा भंग न करने की बात सुनकर बोला-"और यदि इससे शान्ति भंग हुई तो कौन जिम्मेदार होगा ?"

यह सुनकर स्वामी श्रद्धानन्द ने स्पष्ट एवं सुदृढ़ स्वर में कहा-"यदि आप पुलिस और फौज हटा लें तब मैं जिम्मेदारी ले सकता हूँ ।" सभा शान्तिपूर्ण ढंग से सम्पन्न होकर विसर्जित हो गई । ऐसा अजेय साहस था उनमें ।

और जब उनके पीछे-पीछे जन-समूह चाँदनी चौक पहुँचा तो फिर पुलिस की कतारें और संगीनों की चमकती नोकों का सामना हुआ । तब भीड़ में से आगे निकल कर सामने आये स्वामी जी और अपनी छाती आगे करके उच्च स्वर में बोले-"चलाओ गोली" । मौत को गेंद की तरह हाथ में लेकर खेलने का साहस-केवल आत्मबल सम्पन्न, ध्येय के प्रति निष्ठावान तथा लगन के पक्के बिरले ही व्यक्तियों में पाया जाता है ।

ऐसे व्यक्ति के समक्ष भौतिक शक्तियाँ स्वयंमेव ही झुक जाती हैं ।

स्वामी जी के इतना कहते ही फौजी अधिकारी सामने आया और उसने कहा-"इन्हें रास्ता दे दो ।"

संगीनें झुक गईं । रास्ता दे दिया गया और महर्षि विश्वामित्र की वह दिव्य वाणी एक बार फिर चरितार्थ हो उठी, "धिक् बलम् क्षत्रिय बलम् । ब्रह्म तेजो बलम् बलम् ।"

स्वामी श्रद्धानन्द का जीवन त्याग तथा सेवा की कहानी है । परमार्थ के लिए किए गए कार्यों की एक लम्बी शृंखला है । समाज का जो भी पक्ष उन्हें दुर्बल दिखाई दिया उसे ही उन्होंने मजबूत बनाया ।

उन दिनों अंग्रेजी का प्रचलन तेजी से बढ़ रहा था । हिन्दी मृत प्राय हो रही थी । राष्ट्र को जीवित रखना है तो राष्ट्र की एक जीवित भाषा भी होनी चाहिए यह सोचकर उन्होंने हिन्दी भाषा का जो प्रचार तथा प्रसार किया वह एक ऐतिहासिक प्रयत्न है ।

हिमालय की तलहटी में तब उन्होंने अपना कार्यक्षेत्र यह सोचकर चुना कि वेदवाणी भी यही कहती है-

"उप गह्वर गिरीणां, संगमे च नदीनां,
धिया विप्रो अजायत ।"

फलतः गंगा के पार चण्डी पर्वत की उपत्यका में "गुरुकुल काँगड़ी" की स्थापना की । यहाँ निःशुल्क शिक्षा देने की व्यवस्था की । यह हिन्दी को ऊँचा उठाने में एक क्रियात्मक सफल प्रयोग था ।

ब्रिटिश प्रधानमन्त्री (मजदूर दल के नेता) मिस्टर रेम्जे मैक्डानल्ड ने महात्मा श्रद्धानन्द में ईसा की आत्मा के दर्शन किए थे । और इस गुरुकुल की स्थापना को ब्रिटिश सरकार तथा मैकाले शिक्षा प्रणाली के विरुद्ध प्रथम सफल अभियान कहा गया था । सेंण्डलर कमीशन ने स्वयं यह स्वीकार किया था कि हिन्दी माध्यम द्वारा शिक्षा देने का यह सफल प्रयोग है ।

उनका जीवन बहुमुखी प्रतिभा का प्रतीक है । गिरे हुए समाज को ऊँचा उठाने के लिए उन्होंने अपना जीवन तिल-तिलकर जलाया ।

जितना भी ऐश तथा आराम प्रारम्भिक जीवन में किया था उसका बदला ब्याज समेत चुका दिया ।

अपने ओजस्वी लेखों तथा प्रभावशाली वक्तृत्व शक्ति द्वारा भूली भटकी जनता को जो आध्यात्मिक मार्ग-दर्शन आपने दिया वह एक बहुत बड़ा काम है । वे स्वयं सच्चे अध्यात्मवादी थे । गुरुकुल के बच्चों तथा वयस्कों को सदा वे यही उपदेश देते थे कि अच्छे बनो, उत्कृष्ट जीवन जियो और ऐसा कुछ करते रहो जो स्वार्थ की सीमाओं से परे हो, लोक मंगल के लिए हो ।

विधवा विवाह को भी उन्होंने शास्त्र सम्मत सिद्ध किया और कई विवाह करवाये । इसके अतिरिक्त अनाथ बच्चों तथा महिलाओं के लिए कई आश्रम भी खोले । स्वामी श्रद्धानन्द ने उन परिस्थितियों को समाप्त किया जो हिन्दू धर्म की परिधि को संकीर्ण बना रही थीं तथा उन व्यक्तियों की शुद्धि करके पुनः हिन्दू धर्म में मिलाया जो ईसाई अथवा मुसलमान हो चुके थे ।

उनका यह कार्य सबसे महान कार्य है जो उन्होंने हिन्दू धर्म के लिए किया । उनकी सेवाओं तथा सक्रिय चेष्टाओं ने एकबार फिर जगद्गुरु शंकराचार्य तथा कुमारिल भट्ट की स्मृति को जागृत कर दिया था । हिदू धर्म, वैदिक मान्यताओं तथा शास्त्रोक्त पुण्य परम्पराओं के प्रचार तथा प्रसार के लिए उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन ही लगा दिया ।

किन्तु जहाँ फूल उगते हैं वहाँ काँटे भी अपना अस्तित्व बनाये होते हैं । उनकी इन गतिविधियों से उनके विद्वेषी बहुत हो गये और वह दिन भी आ गया जब चौबीस दिसम्बर सन् छब्बीस को अब्दुल रसीद नामक व्यक्ति की तीन गोलियों से स्वामी जी घायल होकर इस असार संसार से ही विदा हो गये ।

वे समाज के लिए ही जिए और समाज के लिए ही बलिदान हो गये । लेकिन मर नहीं पाई उनकी दी हुई प्रेरणा, उनकी की हुई त्यागमय सेवाऐं तथा उनकी आत्माहुति की ज्वाला ।

हिन्दू राष्ट्र तथा समाज उनका चिर कृतज्ञ तथा चिर ऋणी रहेगा ।

अत्याचार से लड़ने वाले
चाफेकर बन्धु

सन् १९०७ में पूना में प्लेग महामारी का भयंकर प्रकोप हुआ। देखते ही देखते हजारों व्यक्ति मरने लगे। उन्हें जलाने तथा गाढ़ने के लिए आदमी तक नहीं मिलते थे।

पहले तो अंग्रेज शासन कर्त्ताओं ने इस ओर कोई ध्यान न दिया। जब यह भीषण रूप धारण कर गई तो उन्होंने जनता को झूँठा दिलासा देने के लिए एक प्लेग निवारक समिति का गठन किया। इस समिति का अध्यक्ष बनाया गया एक अंग्रेज अफसर वाल्टर रेण्ड को। यह व्यक्ति भारतीय जनता के प्रति दुर्व्यवहार करने में पहले ही से कुख्यात था। प्लेग निवारक समिति का तो एक नाम था। रेण्ड को अपनी निर्दयता दिखाने का एक और अवसर मिला। वह स्वयं सैनिकों की टोली के साथ नगर में भ्रमण करता तथा लोगों के घर में घुसकर हर किसी को पकड़ कर अस्पताल भेज देता। रोगियों को घर वालों की सेवा से वंचित कर उन्हें अस्पताल में डलवा देता। वहाँ न तो कोई उपचार होता न सेवा सुश्रूषा ही। परिणाम यह होता कि वे समय से पहले ही मर जाते। रेण्ड जैसे निरंकुश, निर्दय नरपशु के नेतृत्व में अंग्रेज सिपाहियों को मनमानी करने का अवसर मिला। उन्होंने प्लेग निवारण के नाम पर सैकड़ों घरों को लूटा, लोगों को पीटा तथा स्त्रियों से दुर्व्यवहार किया।

इस खुले अनाचार और निरंकुशता से भारतीय जनता में बहुत रोष फैला। नवयुवकों का खून खौलने लगा। मुट्ठी भर विदेशी हमारे देश में मनमाना अत्याचार करते रहें और वे कान में तेल डाले बैठे रहें यह कैसे सम्भव था। आतताई चाहे कितना ही समर्थ क्यों न हो उसका प्रतिकार करना प्रत्येक मनुष्य का धर्म है। नवयुवकों का एक संगठन इस दुर्व्यवहार का बदला लेने के लिए गठित किया गया। इस संगठन के

प्राण थे दामोदर, बालकृष्ण तथा वसुदेव चाफेकर ।

ये तीनों भाई पूना के पास चिंचवाड़ ग्राम के हरिभाऊ नामक महाराष्ट्रीय ब्राह्मण के पुत्र थे । तीनों भाइयों में अपूर्व स्नेह था । सन् १८८३ में आजादी के महान् बलिदानी वासुदेव बलवन्त फड़के का अंग्रेजी जेल में अमानवीय अत्याचार सहते हुए देहान्त हो गया । इन तीनों भाइयों को इस बलिदान से इसी राह पर चलने की प्रेरणा मिली ।

सन् १८५७ की क्रान्ति के असफल हो जाने तथा क्रान्तिकारियों के साथ किए हुए दुर्व्यवहार तथा हत्याकाण्ड को देखकर जनता काँप उठी थी । लोगों ने अंग्रेजी शासन को मिटाना असम्भव मान लिया था । फड़के के प्रयास तथा बलिदान से लोगों में नया उत्साह जागा था।

चाफेकर बन्धुओं ने एक मत होकर अपनी आहुति राष्ट्रीय स्वतंत्रता के यज्ञ में देने का संकल्प कर लिया । उन्होंने बचपन में जो धार्मिक ग्रन्थ पढ़े थे उससे उनके हृदय में देश प्रेम की ज्वाला जलने लगी थी, फड़के के बलिदान ने उसमें घी डाला । रही सही कमी रेण्ड के कुकर्मों ने पूरी कर दी । अब ये अपना सब काम छोड़कर युवकों का एक संगठन बनाने में लग गए । करीब ३०० युवक इस संगठन के सदस्य बने ।

दामोदर पन्त चाफेकर, जो सब में बड़े थे, उन्होंने देखा कि इस छोटे से संगठन से तो इतनी बड़ी हुकूमत से नहीं लड़ा जा सकता । इसके लिए सेना का सहयोग मिल जाय तो हम सफल हो सकते हैं । उसने सेना में भर्ती होने का प्रयास किया । वह इसमें सफल नहीं हो सका । नर-केसरी फड़के ने अपने थोड़े से साथियों के साथ ही अंग्रेजों को नाकों चने चबवा दिये थे, इस कारण मराठों को सेना में भर्ती करने के पहले पूरी जाँच पड़ताल होती थी । दामोदर पन्त को सेना में स्थान नहीं मिला ।

लोकमान्य तिलक 'मराठा' व 'केसरी' के माध्यम से अंग्रेजी शासन को बुरी तरह लताड़ रहे थे । जनता में भी कुछ करने की हिम्मत

आने लगी थी । १२ जून को शिवाजी की वर्ष गाँठ पर बिट्ठल मन्दिर पर हुई सभा में लोकमान्य तिलक ने रेण्ड के अत्याचारों की तीव्र भर्त्सना की । उनका भाषण सुनने के लिए यह युवक मण्डली भी उपस्थित थी । दामोदर चाफेकर ने भी उस सभा में भाषण दिया । तिलक ने देखा कि इसके हृदय में देश प्रेम की आग जल रही है । यह युवक कुछ करने का साहस रखता है । सभा की समाप्ति पर तिलक ने दामोदर पन्त को लक्ष्य करके कहा-"पूना के लोगों में पुरुषत्व है ही नहीं अन्यथा रेण्ड की क्या मजाल थी कि हमारे घरों में घुस जाय ।" दामोदर को यह बात लग गई । वह रेण्ड का नाम ही धरती से मिटाने को तुल गया ।

चाफेकर बन्धु उन लोगों में से नहीं थे जो जमाने की हाँ में हाँ मिलाकर अपने क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति करते हैं तथा अन्याय को आश्रय देते हैं । वह जमाने को बदलने वालों में से थे । पहले भी इन लोगों ने बम्बई में पहरों के बीच विक्टोरिया की प्रतिमा को कोलतार पोते करके जन-जाग्रति से अंग्रेजों को अवगत कराया था ।

चाफेकर बन्धु रेण्ड को दण्ड देने के लिए कटिबद्ध थे । दामोदर ने गोली चलाने का भार अपने पर लिया और बालकृष्ण व वसुदेव को सूचना देने के लिए गुप्तचरी का काम सौंपा गया । ये लोग इसी ताक में रहने लगे कि कब अवसर हाथ लगे और रेण्ड को मारा जाय ।

रेण्ड को इसकी भनक पड़ चुकी थी । उसने अपना निवास बदल दिया था । एक सरकारी अफसर और इन साधन हीन अल्प वयस्क युवकों का मुकाबला था । उसके भेदिये यत्र-तत्र फैले हुए थे और इनको कदम-कदम पर विश्वासघात का धोखा था । सहयोग की आशा संजोये हाथ पर हाथ रखे बैठे रहे तो जीवन बीत जायेगा और कुछ होगा नहीं । यह सोचकर इन थोड़े से नवयुवकों ने ही अपने देश और जाति के गौरव को कलंकित करने वाले रेण्ड को दण्ड देने के लिए जान हथेली पर रख ली ।

२२ जून को विक्टोरिया की हीरक जयन्ती मनाने के लिए शहर में

एक विशेष समारोह आयोजित किया गया । समारोह से लौटते हुए रेण्ड तथा डोवर शायर एवं रेजीमेण्ट के लेफ्टीनेण्ट चार्ल्स इगर्टन दामोदर चाफेकर की गोली के शिकार हुए । आततताइयों को दण्ड देने वालों के इतिहास में एक पृष्ठ और जुड़ गया ।

इस काण्ड को सुनकर अंग्रेज बौखला गये समारोह का सारा रंग धुल-पुंछ गया । भारतीय जनता में उत्साह की एक लहर दौड़ गई । मारने वाले की खोज होने लगी । बीस हजार रुपये के लोभ में इनके ही दल क्रे एक युवक ने इन्हें पकड़वा दिया ।

इन पर मुकदमा चला । दामोदर ने अपराध स्वीकार कर लिया । इन्हें फाँसी की सजा दी गई । फाँसी के फन्दे को चूमते समय इनकी आयु केवल २७ वर्ष की थी । विवाहित पत्नी तथा एक पुत्र को छोड़कर यह देश भक्त हँसते-हँसते अपने देश पर निछावर हो गया ।

बालकृष्ण व वसुदेव ने दामोदर को पकड़वाने वाले गणेश शंकर द्रविड़ तथा उसके अन्य दो विश्वासघाती साथियों को अपने इस कुकर्म का फल भुगता दिया । वे भी इनकी गोली का शिकार होकर रेण्ड के पथ के पथिक बने । देश द्रोहियों को दण्ड देने के बाद इन्होंने स्वयं को पुलिस के हवाले कर दिया । इन पर हत्या का मुकदमा चला और इन्हें भी फाँसी की सजा हुई ।

चाफेकर बन्धुओं के बलिदान के दूरगामी परिणाम हुए । जनता में विश्वास जागा, विदेशी अत्याचारियों से लड़ने की प्रेरणा मिली, बलिदानों की परम्परा चलती ही रही । विवश होकर अंग्रेजों को भागना पड़ा । ऐसे वीरों का बलिदान नित्य पथ पर बढ़ने की प्रेरणा देता रहेगा और इस पथ के राही आदर्शों के लिए जान पर खेलते रहेंगे ।

रौद्रता एवं सहृदयता के समन्वित आदर्श
चन्द्रशेखर आजाद

(यह चन्द्रशेखर आजाद के जीवन का एक मार्मिक प्रसंग मात्र है। इनका संक्षिप्त जीवन परिचय पुस्तक के दूसरे भाग के अन्त में दिया गया है।)

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम अपने वेग पर था। उग्रवादी नया खून शान्त तरीकों के अतिरिक्त हिंसात्मक प्रतिकार पर भी उतर आया था। अंग्रेजों को अपनी दमन-नीति पर गर्व था-वे दिखलाना चाहते थे कि भारतीय जवानों में कड़े प्रतिकार की क्षमता नहीं है। ऐसी स्थिति में शान्तिपूर्ण आन्दोलन तथा सहनशीलतापूर्ण प्रतिकार के साथ, शौर्य एवं उग्रता का नमूना भी उनके सामने रखना आवयश्यक-सा लगा। उन परिस्थितियों में जो युवक उस आन्दोलन में कूद पड़े-उनके कार्य को देखकर बड़े-बड़ों के हौसले पस्त हो गये। दहकते हुए अंगार जैसे उनके व्यक्तित्व का तेज सहन करना कठिन था। फिर भी उनके अन्तःकरण में मानवता, सहृदयता तथा भावनाशीलता के जो पावन स्रोत बहते थे-उनको देख सकने वाले गद्‌गद् हो उठते थे। उनका मानवीय गुणों से पूरित अन्तःकरण ही वह प्रधान कारण था जो उन्हें अनर्थकारी विघटन से रोके रहा तथा उनके विद्वेष को भी रचनात्मक बनाये रहा।

चन्द्रशेखर आजाद उस समय अखिल भारतीय स्तर के क्रान्तिकारी के रूप में सामने आ चुके थे। अंग्रेज सरकार उनकी खोज में थी। तभी उन्हें सूचना मिली कि उनके क्रान्तिकारी स्वरूप के गठन में सहयोग देने वाले एक शिक्षक की बच्ची का विवाह होने वाला है।

चन्द्रशेखर आजाद यों ही जोश में आकर मैदान में नहीं कूद पड़े थे। उन्होंने हर संभावित स्थिति के उपयुक्त योग्यता एकत्र की थी, हर आवश्यक कार्य का प्रशिक्षण लिया था। उसी अभ्यास क्रम में उन्होंने मोटर चलाने तथा उसकी मरम्मत सम्बन्धी कुशलता भी प्राप्त की थी। यह अभ्यास उन्होंने झाँसी में 'दि हिन्दुस्तान मोटर वर्क्स' में किया

था । उनके प्रशिक्षक इस्लाम धर्म के अनुयायी, सहृदय तथा राष्ट्रीय विचारधारा से ओत-प्रोत व्यक्ति थे । उन्हीं की लड़की की शादी होने वाली थी ।

उन दिनों स्वतंत्रता आन्दोलन में भाग लेने वाले हर व्यक्ति को कठोर परिस्थितियों का सामना करना पड़ता था । क्रान्तिकारियों के समर्थक होने का शक भी जिस पर हो उसे तो सरकारी दरिन्दे अकारण ही परेशान किया करते थे । अस्तु अधिकांश आर्थिक कठिनाइयों में ही रहते थे । फिर भी परस्पर सहयोग तथा अपने साहस एवं पुरुषार्थ के बल पर वे सदा मस्तक ऊँचा ही किए रहे । चन्द्रशेखर आजाद के उक्त प्रशिक्षक के भी सभी हितैषी उनके सहयोग के लिए एकत्र होकर कन्या के विवाह की व्यवस्था करने लगे ।

चन्द्रशेखर आजाद के कार्य और उनकी कठिन परिस्थितियों से सभी परिचित थे । अतः उनसे सहयोग लेने की किसी को कल्पना भी नहीं थी । किन्तु वे एक रात स्वयं उनके यहाँ पहुँच गये । उन्हें देखते ही उनके उस्ताद चौंके । बोले, "क्यों आजाद खैरियत तो है ?" आजाद के अचानक प्रकट होने से उन्हें चिन्ता हो गई थी, पता नहीं क्या कारण आ पड़ा, किस परिस्थिति में आना पड़ा ? जब आजाद ने आने का कारण बतलाया तो चिंता का निवारण तो हुआ पर उन्होंने प्यार भरी डाट भी दी । बोले-"ऐसी स्थिति में तुम्हें अकारण आने की क्या आवश्यकता थी ? यहाँ जो लोग हैं वही क्या काफी नहीं हैं ? एक तुम्हारे बिना ही क्या काम रुकता था ।"

आजाद नम्रतापूर्वक उनकी बात सुनते रहे और फिर बोले-"उस्ताद जी ! मैं नाचीज किसी काबिल होऊँ या नहीं, मेरी जान पर खतरा हो या न हो, किन्तु बहिन की शादी के लिए मैं सहयोग करने का कोई प्रयास भी न करूँ इतना नीच तो मैं नहीं ही हूँ ।"

आजाद के नाम पर ब्रिटिश सरकार काँप रही थी । उनके पुरुषार्थ से देश में आग बरस रही थी, पर अपने शिक्षक के सामने उनके सीधे-सादे निश्छल शब्द उनके शुद्ध पवित्र अन्तःकरण के प्रतीक थे । उस्ताद

ने भी प्रेम के नाते अकारण खतरा न लेने के आग्रह से उनको मीठी झिड़की दी थी । पर आजाद के आग्रह के आगे वह पानी-पानी हो गये । चुपचाप अन्दर गये और कुछ रुपये लाकर उनके हाथ में दिये और बोले-"काम तो तुम्हें देता हूँ पर अब और बात न सुनूँगा । यह रुपये ले जाओ, अपनी ओर से कुछ खर्च करने का न आग्रह करना और न प्रयास ही । यह मेरी आज्ञा है । यहाँ झाँसी की अपेक्षा ओरछा में घी काफी सस्ता है । वहाँ से दो टीन घी खरीद कर अपनी बहिन की शादी के लिए भेज देना । बस इतना ही कार्य तुम्हारे लिए बहुत है । बेटा, तुम्हारा काम बहुत बड़ा है उसमें ही समय लगाओ ।" और आदेश प्राप्त करके, रुपये अन्टी में लेकर चन्द्रशेखर आजाद उसी रात वापस ओरछा के जंगलों में पहुँच गये ।

विवाह व्यवस्था अपने मार्ग पर चलती रही । घी की व्यवस्था चंद्रशेखर आजाद के हाथों में देने के बाद लोग उस तरफ से निश्चिन्त हो गये । उन्हें विश्वास था कि आजाद किसी न किसी सूत्र से समय के अन्दर व्यवस्था कर ही देंगे । पर ऊपर से फौलाद की तरह कठोर-जरा से संदेह पर मनुष्य को गोली से उड़ा देने वाले चन्द्रशेखर आजाद के अन्तःकरण को शायद उनके निकटस्थ आत्मीय भी पूरी तरह न पहचान सके थे ।

उक्त घटना के एक सप्ताह के अन्दर ही एक रात्रि को फिर दरवाजा खटका । उस्ताद ने उठकर दरवाजा खोला तो देखा कन्धे पर बहँगी पर दो टीन घी लिए चन्द्रशेखर आजाद खड़े हैं । पलक मारते उस्तादजी सब समझ गये । ओरछा से झाँसी तक, घी स्वयं आजाद अपने कंधे पर लाये थे । सीधे रास्ते तो वैसे भी घी नहीं लाया जा सकता था । फिर आजाद को, जिन्हें पुलिस से लेकर गुप्तचर तक खोजते रहते थे-कितनी सावधानी से, बीहड़ जंगलों में होकर आना पड़ा होगा, यह समझते उन्हें देर न लगी । उनकी भावना पर हृदय भी उमड़ा किन्तु खतरा लेने पर क्रोध भी आया । तुरन्त अन्दर करके दरवाजा बन्द किया और प्यार व रोष पूर्ण फटकार फिर निकल पड़ी ।

"आजाद ! तुम कितने लापरवाह आदमी हो ? और कोई साधन तुम्हें नहीं मिला, किसी और तरीके से भेजना क्या संभव नहीं था तुम्हारे लिए ?" और आजाद का फिर वही नम्रता भरा अकाट्य, प्रेम से भरा बेजोड़ उत्तर था-"इस पवित्र कार्य में मुझे एक ही तो मौका मिला था उस्ताद जी, उसी को किसी और से करा लेता तो मेरा यह शरीर किस काम आता ?"

"पर आजाद सोचो तो, देश को तुम्हारी कितनी आवश्यकता है, उसको भुलाकर ऐसा खिलवाड़ क्या शोभा देता है ? समय के अनुसार उपयोगिता का ध्यान भी तो रखना चाहिए ।" आजाद उसी प्रकार सर झुकाये खड़े रहे । जिस गले की कड़क लोगों की रूह कँपा देती थी- वही जैसे शहद में डुबोकर वाक्य निकाल रहा था । बोले-"उपयोगी अनुपयोगी के स्थापन में मेरी बुद्धि काम नहीं कर पाती । मुझे ढालते समय मेरे रौद्र रूप के अन्दर किसी ने मनुष्यता का एक अंकुर भी जमा दिया है । वह भी तो अपनी खुराक, अपना हक माँगता है । उसकी उपेक्षा कर देने के बाद यह चलती-फिरती विध्वंशक मशीन देश के कितने काम आ सकेगी यह मैं नहीं समझता ।"

अब उस्ताद से न रहा गया । बनावटी क्रोध बह गया । आजाद को उन्होंने गले से लगा लिया और देर तक मूर्तिवत् स्थिर से खड़े रह गये, केवल आँसू बह रहे थे । फिर भरे कण्ठ से बोले-"बेटा ! हमारा जमाना तो गया-अब तुम्हीं पर देश को आशा है । तुम्हें देखकर हमें संतोष है कि आपत्ति कालीन धर्म के रूप में हमने जो तोड़-फोड़ स्वीकार की है-वह देश का अहित न कर सकेगी । जाओ भगवान् तुम्हें सफल करें ।" और चन्द्रशेखर आजाद उनके चरण छूकर पुनः लौट पड़े अपने कार्य क्षेत्र की ओर ।

तथ्य साक्षी हैं-गुणों को हृदय में धारण करके तोड़-फोड़ को स्वीकार करने वाले क्रान्तिकारी देश के निर्माण में बाधक कभी नहीं बने और शान्ति की दुहाई देने वाले अन्तःकरण के हीन व्यक्तित्वों के कारनामे हमारे सामने रोज आया करते हैं । फिर भी नई पीढ़ी को बनाने

ढालने में उन देश पर मर मिटने वाले वालों के आन्तरिक गठन की उपेक्षा करके हम अपने मानसिक दिवालिएपन का नमूना प्रस्तुत किए जा रहे हैं ।

मातृभूमि के बलिदानी सोहनलाल पाठक

फाँसी के फन्दे पर लटकाने से पहले जेल अधिकारी ने कैदी से पूछा-"आपकी अन्तिम इच्छा क्या है ?"

कैदी मुस्कराया, उसने कहा-"मैं चाहता हूँ कि मुझे शीघ्र से शीघ्र फाँसी दी जाय ताकि मेरा यह जन्म समाप्त हो और दूसरा जन्म लेकर भारत को स्वतंत्र कराने के प्रयत्न में दूसरी बार फाँसी के फन्दे को पुनः चूम सकूँ ।"

यह कैदी कोई साधारण कैदी न था । किसी चोरी, डकैती या कत्ल करने के अपराध में जेल के सीखचों में बन्द न किया गया था । वरन् यह देश भक्त था और देश को स्वतंत्रता दिलाने का प्रयत्न ही इसका अपराध था । नाम था-सोहनलाल पाठक ।

माण्डले की जेल । १० फरवरी १९१६ की एक सुबह । अमर शहीद सोहनलाल पाठक को फाँसी के तख्ते पर चढ़ाया गया । जल्लाद उस निरपराधी की जीवन लीला समाप्त होते देख आँसू बहा रहे थे और पाठक अपने देश पर न्यौछावर होने में प्रसन्नता तथा गर्व का अनुभव कर रहे थे । भला जिस देश में ऐसे बहादुर हों उस देश की स्वतंत्रता को रोक भी कौन सकता था ?

सोहनलाल पाठक का जन्म सन् १८८३ में हुआ था । परिवार की आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के कारण स्कूली शिक्षा से शीघ्र ही सम्बन्ध तोड़ना पड़ा और लाहौर के डी. ए. वी. स्कूल में केवल २१ रुपये मासिक पर शिक्षक का कार्य करना पड़ा ।

इस समय राजनीतिक क्षेत्र में ऐसी घटनाऐं घट रही थीं जिनकी उपेक्षा करना पाठक जैसे देश भक्त के लिए सम्भव न था । बंगाल का विभाजन, लाला लाजपतराय और सरदार अजीतसिंह जैसे नेताओं की गिरफ्तारी, खुदीराम बोस का बलिदान और मदनलाल ढींगरा द्वारा कर्जन पर गोली चलाना जैसी घटनाऐं उनके कानों में पड़तीं और अंग्रेजों द्वारा भारतीयों पर किए गये अत्याचार देखने और सुनने को मिलते तो उनका खून खौलने लगता था ।

सन् १९०८ में लाला हरदयाल इंग्लैण्ड से लौटकर लाहौर आये तो युवक पाठक का उनसे सम्पर्क बढ़ने लगा । इसी समय उन्हें एक पुत्र का पिता बनने का अवसर मिला । परिवार के लिए यह प्रसन्नता की ही बात थी पर दूसरे ही क्षण यह समाचार भी सुनने को मिला कि पुत्र को जन्म देकर माँ सदैव के लिए संसार से बिदा हो गई और एक सप्ताह बाद वह पुत्र भी भगवान को प्यारा हो गया ।

पाठक की उस समय उम्र ही क्या थी ? घर वाले तथा मित्रों ने दूसरे विवाह के लिए बहुत जोर दिया पर उन्होंने साफ-साफ कह दिया "ईश्वर मुझसे कुछ महत्वपूर्ण कार्यों की आशा करता है । इसीलिए तो उसने उत्तरदायित्वों से मुक्त किया है ।"

उनका लक्ष्य था दूसरे देशों से सहायता प्राप्त करके भारत में क्रान्ति करवाना और अंग्रेजों को देश छोड़ने के लिए विवश करना । उस समय तक काँग्रेस पार्टी और गाँधी जी पूर्ण प्रकाश में भी न आ पाये थे और उनकी गतिविधियाँ देश हित में तेज न हो पाई थीं । ऐसे ही समय में पाठक अपने ६ साथियों को लेकर अमेरिका पहुँचे ।

भारतीयों के सहयोग से अमरीका में गदर पार्टी की स्थापना की गई और एक गदर पत्र निकाला गया जिसका उद्देश्य भारतीय स्वतंत्रता के लिए वातावरण का निर्माण करना था ।

सन् १९१४ में विश्व युद्ध छिड़ गया । अंग्रेजों ने दो लाख सैनिकों को भारत से बाहर युद्ध के लिए भेजा । इस अवसर का क्रान्तिकारी लाभ उठाना चाहते थे । सोहनलाल पाठक बर्मा में क्रान्ति कराने का प्रयास

कर रहे थे । उन्होंने वहाँ के दो हजार सैनिकों को अपने पक्ष में कर लिया । चार दिन तक सिंगापुर में क्रान्ति की ज्वाला धधकती रही और वहाँ का शासन सूत्र देश-भक्तों के हाथ में रहा ।

एक दिन पाठक सैन्य छावनी में कुछ सैनिकों को मार्ग दर्शन दे रहे थे कि तीन हिन्दुस्तानी सैनिकों ने उनको घेर लिया । वह हिन्दुस्तानी सैनिक उनके भाई थे । पाठक अपने उन देशवासियों से बदला नहीं लेना चाहते थे । वैसे उस समय उनके पास तीन स्वचालित पिस्तौल तथा २८७ गोलियाँ थीं । जरासी देर में वह तीनों सैनिकों को मौत के घाट उतार सकते थे या बर्मा के सैनिकों को ही संकेत करते तो वे ही उनका काम तमाम कर देते । पर एक भारतीय दूसरे भारतीय के प्राणों का ग्राहक बने यह उन्हें स्वीकार न था ।

वह बन्दी बनाकर माण्डले के जेल में भेज दिये गये और एक दिन देश को स्वतंत्रता दिलाने के प्रयासों में फाँसी के तख्त पर झूल गये ।

मातृभूमि के लिए सर्वस्व न्यौछावर करने वाले तथा हँसते-हँसते मौत को गले लगाने वाले ये वीर आत्मा की नित्यता पर विश्वास करते थे । इसी विश्वास के कारण वे उस काल में अंग्रेजी शासन से लड़े जिस समय कि उनके राज्य में सूर्य अस्त नहीं होता था । सत्य में कितनी शक्ति होती है, मनुष्य के विचारों व भावनाओं में कितनी शक्ति भरी है इसका उज्ज्वल उदाहरण पाठक जी का जीवन है जो हमें सिखाता है अन्याय को सहन करना, जो कुछ हो रहा है उसे अनुचित व अस्वाभाविक मानते हुए भी ऐसे चुपचाप बैठे रहना मानव-धर्म नहीं, वरन् अन्याय और अत्याचार का विरोध करते हुए यदि प्राणों की आहुति देना पड़े तो वैसा करते हुए मर जाना ही सच्चा मानव धर्म है ।

मातृभूमि पर सर्वस्व निछावर करने वाले रोशनलाल मेहरा

'मातृभूमि की स्वतंत्रता के लिए न जाने कितने लोग सुख-सुविधाओं को ठोकर मारकर मृत्यु को गले लगा रहे हैं । मुझे और मेरे परिवार को भी इस पुनीत कर्म में योगदान देना चाहिए । देश के लिए कुछ न कर पाये तो हमारा जीवन व्यर्थ है ।' ये विचार श्रीमती ललिता देवी के मन को निरन्तर मथा करते थे । परन्तु पति तो बस अपनी कपड़ों की दुकान में ही मग्न थे । उन्हें देशहित जैसे कार्यों में कोई रुचि न थी । 'रामजी लाभ दें' इसी में वे अपने जीवन की सार्थकता मानते थे ।

'पति परिवार का भरण-पोषण कर ही रहे हैं, मुझे अपनी शक्ति का सदुपयोग स्वतंत्रता संग्राम में करना चाहिए, यह सोचकर उन्होंने क्रान्तिकारियों से सम्पर्क बनाना प्रारम्भ कर दिया । धीरे-धीरे बंगाल की क्रान्तिकारी संस्था 'अनुशीलन-समिति' से उनके सम्बन्ध घनिष्ठ होते गये । वे क्रान्तिकारियों को जी खोल कर आर्थिक सहायता दिया करती थीं तथा अन्य विविध प्रकार से उनके कार्यों में सहयोग देती थीं ।

एक बार श्रीमती ललिता देवी आसन्नप्रसवा थीं । उन्होंने निश्चय किया कि पुत्र हो या पुत्री-वे उसे देश रक्षा के लिए दे देंगी । 'गर्भावस्था में माता के आचार विचारों का गर्भस्थ शिशु पर पूरा-पूरा प्रभाव पड़ता है' यह वे भली-भाँति जानती थीं । मदालसा का उदाहरण उनके सम्मुख था । इन्होंने इस पूरी अवधि में निरन्तर क्रान्तिकारी साहित्य तथा भारत की वीर गाथाऐं पढ़ीं । माता का अभिप्राय जन्म से पूर्व ही शिशु पर वीरता और साहस के संस्कार डालना था ।

सम्वत् १९७१ अगहन सुदी पूर्णमासी को उन्होंने सुन्दर से पुत्र को जन्म दिया । नाम रखा गया-रोशनलाल । बड़ा होकर यह बालक सचमुच माँ के नाम को-भारतमाता के वीर सुपुत्रों के नाम को 'रोशन' करने वाला ही निकला ।

माता ने इनके मन में शौर्य, पराक्रम और अन्याय के प्रति विद्रोह की भावना बचपन में ही भर दी थी । वे क्रान्तिकारी शहीदों की जानकारियाँ सहज सुबोध कथाओं के रूप में बालक रोशनलाल को सुनातीं और पूछ्ती-"क्या तू भी इन जैसा बनेगा ?" छोटा बालक सीना तानकर कहता "हाँ" और फिर सोचते-सोचते माता के आँचल में सो जाता ।

धीरे-धीरे रोशनलाल बड़े होते गये । उन्होंने हाई स्कूल तक शिक्षा प्राप्त की । अंग्रेज "काले गुलाम" बनाने की शिक्षा प्रणाली ही देश में विकसित कर रहे थे । अतएव उन्हें ऐसी शिक्षा के प्रति तीव्र अरुचि उत्पन्न हो गई, और आगे की शिक्षा उन्होंने छोड़ दी ।

इसी मध्य सन् १९२८ में माता का स्वर्गवास हो गया । मरते समय भी उन्होंने पुत्र को आदेश दिया था कि वह पूरी तरह से स्वयं को देश की रक्षा के लिए समर्पित कर दे । जननी की इच्छा पूरी करने के लिए वह १५ वर्षीय किशोर पूरी तरह से जुट पड़ा ।

१९३० में रोशनलाल क्रान्तिकारी पार्टी के सक्रिय सदस्य बन गये । यद्यपि वे अमृतसर में रहते थे तथापि पंजाब, उत्तर प्रदेश, बंगाल आदि के क्रान्तिकारियों से निरन्तर सम्पर्क बनाये रखते थे ।

उन दिनों सरकार तथा पुलिस जनता पर बड़ा अत्याचार करती थी । यदि उसे यह पता लग जाता कि अमुक व्यक्ति क्रान्तिकारी दल या देश की स्वतंत्रता के लिए प्रयत्नशील अन्य किसी दल से सम्बन्धित है, तो उसके पीछे निरन्तर जासूस लगे रहते थे और किसी न किसी बहाने से जेल में बन्द करा देते थे । स्वतंत्रता संग्राम से सम्बन्धित किसी भी गोष्ठी, किसी भी समिति के विरुद्ध कड़ी से कड़ी कार्यवाही की जाती थी । अतएव क्रान्तिकारी संगठन सरकार की आँखों में धूल झोंक कर गुप्त रूप से ही अपनी गोष्ठियाँ किया करते थे ।

श्री रोशनलाल ने भी उपर्युक्त मार्ग को अपनाया । उन्होंने संगठन का कार्य सुचारु रूप से चलाने के लिए एक मकान किराए पर लिया । यों सामान्यत: देखने पर यह विद्यालय जैसा लगता था, परन्तु वास्तव में

यह क्रान्तिकारियों का गुप्त अड्डा था । उनके विविध कार्यों की रूपरेखा यहीं तैयार होती थी ।

१९३०-१९३१ के असहयोग आन्दोलन के समय अमृतसर की कोतवाली काँग्रेस के सत्याग्रहियों पर निरन्तर कहर ढा रही थी । अपने भाइयों पर होता अन्याय-अत्याचार देखकर रोशनलाल से रहा न गया और उन्होंने सर्वसम्मति से कोतवाली पर बम फेंकने का निर्णय पास कराया । वे बर्बर अधिकारियों को सचेत करना चाहते थे कि हम खून का बदला खून से लेना भी जानते हैं । रोशन ने अपने साथी उमाशंकर की सहायता से बम फेंका जिससे कोतवाली को काफी हानि हुई । पुलिस पता लगा-लगाकर थक गई कि ऐसा दुस्साहस करने वाला, जान-बूझकर मौत की कामना करने वाला आखिर कौन है, परन्तु असफल ही रही ।

श्री रोशनलाल मेहरा ने अपनी विचारशीलता से समय-समय पर दल को लाभान्वित कराया । क्रान्तिकारियों को धन की आवश्यकता होती थी तो वे डकैती डाल लिया करते थे । रोशनलाल व्यक्तिगत घरों पर डकैतियों के सख्त विरोधी थे । उनका मत था कि इससे जनता का अहित तो होता ही है साथ ही संगठन को भी विशेष लाभ नहीं होता । धन तो पर्याप्त रूप में मिल नहीं पाता-हाँ पुलिस से मुठभेड़ का डर अवश्य रहता है । इस कार्य में दल के कुछ साथी भी खोने पड़ते हैं । अतएव उन्होंने साथियों को यह मंत्रणा दी कि भविष्य में न ही कोई डकैती डाले, न डकैती के कार्यों में सहयोग दे ।

उस समय लगभग पूरे भारतवर्ष में अंग्रेजी शासन के विरुद्ध विद्रोह की व्यापक चिन्गारी विद्यमान थी । तथापि कुछ एक प्रान्त बिल्कुल शान्त भी थे । रोशनलाल ने एक मीटिंग में अपने विचार प्रकट करते हुए कहा था कि मद्रास प्रान्त में लम्बे समय से कोई भी क्रान्तिकारी संगठन कार्य नहीं कर रहा है, फलतः वहाँ अंग्रेज शासक बड़े चैन और घमण्ड के साथ बार-बार यह घोषणा करते हैं कि उनके प्रान्त की जनता सबसे अधिक राजभक्त है । यह हमारे लिए चुनौती और लज्जा की बात है ।

अतएव शीघ्र ही मद्रास पहुँच वहाँ की सोई हुई जनता को जगाना आवश्यक है । रोशनलाल की यह महत्वपूर्ण राय सर्वसम्मति से स्वीकृति हुई । रोशनलाल सदैव-सदैव को अपना घर परिवार छोड़कर शम्भूनाथ आजाद, सीतानाथ डे आदि कुछ साथियों के साथ मद्रास पहुँच गये ।

अंग्रेजों को यह बताने के लिए कि अब भारतवर्ष जाग उठा है और उनकी तानाशाही अधिक न चल पायेगी, इन्होंने मद्रास के गवर्नर पर बम फेंकने का निश्चय किया । उनके साथी ने सुझाव दिया कि बंगाल का गवर्नर भी वहीं आ रहा है अतएव दोनों पर एक साथ बम फेंके जायें ।

इसी मध्य इनके संगठन के पास धन की कमी हो गई । अन्य कोई व्यवस्था न हो पाने पर क्रान्तिकारियों ने ऊटी बैंक को लूटने का निश्चय किया । तथापि रोशन लाल इसके पक्ष में न थे । उनका कथन था कि यह कदम घातक है तथा इससे पुलिस को हमारे संगठन का पता चल जाने का भय है । पर धन का इतना अभाव था कि साथियों ने एक न सुनी और वे ऊटी के लिए रवाना हो गये ।

डकैती सम्पन्न तो हुई परन्तु शम्भूनाथ आजाद को छोड़कर अन्य लोग गिरफ्तार कर लिए गये । शम्भूनाथ रुपया लेकर मद्रास आ गये । रोशनलाल ने जब आजाद के साथियों की गिरफ्तारी का समाचार सुना तो उन्हें बड़ी ठेस पहुँची और उन्होंने सबसे पहले ऊटीकाण्ड में गिरफ्तार साथियों को जेल से छुड़ाकर लाने का ही निश्चय किया ।

पुलिस के चंगुल से साथियों को छुड़ाकर लाना कोई साधारण कार्य न था । इसके लिए असीम साहस और अच्छे हथियारों की आवश्यकता थी । रोशनलाल ने बम बनाने का निश्चय किया । उन्होंने बम का मसाला तो बना लिया । अब समस्या खड़ी हुई कि उसे प्रयोग करके कैसे देखा जाये क्योंकि मद्रास जैसे नये अपरिचित स्थान पर बम के खोल ढलवा पाना खतरे से खाली न था । अतएव चूड़ीदार मद्रासी लोटों को ही बम के खोल के रूप में प्रयोग करने का निश्चय किया गया ।

श्री रोशनलाल ने बम तैयार किया तथा मद्रास बन्दरगाह की पूर्वी दिशा में रामपुरम् क्षेत्र के समुद्र तट पर रात्रि के आठ बजे बम परीक्षण का निश्चय किया । घातकता के कारण वे यह प्रयोग किसी अन्य को करने देने को तैयार न थे । १ मई १९३३ को रात्रि निश्चित समय पर रोशनलाल अपने साथियों के साथ समुद्रतट पर पहुँचे । सागर की उत्ताल तरंगे भयंकर गर्जन कर रही थीं । कोई बाहर का व्यक्ति न आ जाये इस आशंका से दो साथी पश्चिमी दिशा में चौकसी करने लगे । भयंकर काली रात्रि में रोशनलाल हाथ में बम लिए समुद्र के किनारे बढ़ते ही जा रहे थे । सहसा एक ओर जोर का धमाका हुआ । पलभर को आकाश में बिजली-सी कौंध गई फिर चारों ओर धुआँ ही धुआँ छा गया ।

रोशनलाल के तीनों साथी उनके वापस लौटने की प्रतीक्षा कर रहे थे । भीषण विस्फोट की ध्वनि के कारण रामपुरम् क्षेत्र की जनता तथा पुलिस उस और दौड़ पड़ी थी । पूर्वी क्षेत्र पर तैनात साथी ने सोचा कि रोशनलाल पश्चिमी क्षेत्र की ओर गये होंगे और पश्चिमी क्षेत्र पर तैनात साथियों ने सोचा कि पूर्वी क्षेत्र की ओर गये होंगे । अतएव तीनों साथी घर लौट आये । लेकिन अब वे चार न थे । यह मालूम होते ही कि रोशनलाल वापस नहीं आये एक साथी श्री इन्द्रसिंह मुनि मद्रासी का छद्मवेश बनाकर घटनास्थल की ओर दौड़ गये ।

वहाँ उन्होंने बड़ा करुण दृश्य देखा । गिरजाघर के सामने पुलिस के सख्त पहरे में रोशनलाल का क्षतविक्षत शरीर पड़ा था । दाहिना हाथ शरीर से पृथक हो चुका था । बम के टुकड़े शरीर में गहराई से प्रवेश कर गये थे तथा स्थान-स्थान से रक्त निकल रहा था । पुलिस के पहरे से लाना उन्हें सम्भव न जान पड़ा अतएव इन्द्रसिंह लौट आये ।

रोशनलाल की साँस अभी मन्द गति से चल रही थी । उन्हें मद्रास के सार्वजनिक अस्पताल में भेजा गया । एक-दो बार होश आने पर उन्होंने पानी माँगा पर अधिकारी यही कहते रहे कि पहले अपना और अपने मित्रों का पता बता दो तभी पानी देंगे । वह वीर पुरुष प्यास से तड़फता रहा, परन्तु मरते समय तक भी उसने संगठन का कोई भेद न

दिया । रात्रि के बारह बजे उनके प्राण-पखेरू उड़ गये ।

बाद में सरकारी रसायन विशेषज्ञ ने अपनी रिपोर्ट देते हुए कहा था कि संभवत: रोशनलाल का पैर फिसल गया और उनके गिरने से बम का विस्फोट हो गया ।

इस प्रकार रोशनलाल आजीवन मातृभूमि की स्वतंत्रता के लिए प्रयत्नशील रहे । जब से वे क्रान्तिकारी दल में सम्मिलित हुए तभी से साधारण मोटे वस्त्र पहिनना, मोटा भोजन खाना तथा भूमि पर सोना प्रारंभ कर दिया । उनका कहना था-"गरीब भारत में हम क्रान्तिकारियों को उतना ही खाना-पहिनना है जिसके बिना जीवित रहना संभव न हो ।"

वस्तुत: कोई भी व्यक्ति हो, कोई भी संगठन हो, वह तभी सफल हो सकता है जब कि समय, शक्ति, चिन्तन, विचारधारा, कर्तृत्व सभी लक्ष्यपूर्ति में संयोजित कर दिए जायें । हर समय कार्यकर्त्ता के मन में 'गजर' की भाँति अपना उद्देश्य गूँजता रहे तथा 'करना चाहिए' के स्थान पर 'किया है' बताने को वह आतुर रहे ।

अकेले एक मिशन-पं. काशीराम जोशी

अम्बाला जिला (पंजाब) के गाँव मडौली कलाँ में आज एक बहार आ गई है । पंडित गंगाराम की चौपाल इस बहार से भर उठी है । हजारों नर-नारी यहाँ आ जुटे हैं । इस बहार का कारण था तेरह वर्ष से बिछुड़ा उनका बेटा काशीराम ।

गाँव की गलियों में घूमते-खेलते फिरने वाले बालक काशी-पटियाला के स्कूल से मेट्रिक पास करके नौकरी के लिए घूम-घूमकर जूतियों के तल्ले घिसा देने वाले काशी को आज तेरह वर्ष बाद गाँव के लोगों ने एक नये रूप में देखा । बचपन में जो कहता था, "मैं पढ़-लिखकर बड़ा आदमी बनूँगा । देश की सेवा करूँगा ।" उसका यह अरमान पूरा हो चुका था । अमेरिका में उसका लाखों का व्यापार चलता

था । यही नहीं सात समन्दर पार करके वह अपने देश को विदेशियों के पंजों से मुक्त कराने आया था । अकेला नहीं अपने कई साथियों के साथ एक सुनियोजित ढंग से विद्रोह करने के लिए आया था ।

उसकी बोली से आग बरस रही थी-"भाइयो ! गुलामी की जिन्दगी से इज्जत की मौत बेहतर है । भारत माँ आज विदेशी शासन में जकड़ी सिसक रही है । हमें उसे मुक्त कराने में जुट जाना है । यह वही पंजाब है जहाँ वीर नलवा और गुरु गोविन्दसिंह जन्मे थे । हकीकत और भाई मतिदास जैसे बलिदानी जन्मे थे । उन्हीं पाँच नदियों का अमृत हमने पिया है । हमें जीना है तो उसी शान के साथ जीना है नहीं तो उसी शान के साथ मर जाना है ।

पिता, चाचा, भाई तथा बेटा आश्चर्य से इस आग के पुतले को देख रहे थे । जो कभी राख में दबा पड़ा था । जिसे कभी वे पहचान नहीं पाये थे आज वही धधक कर दावानल उपस्थित करने को तत्पर हो रहा था । वह कहता जा रहा था-"इच्छा तो बहुत थी कि कुछ दिन यहाँ रहूँ, पर क्या करूँ, यहाँ जिस उद्देश्य से आया हूँ वह पहला कर्तव्य है । अब इजाजत दीजिए ।"

यह क्या तेरह बरस में वापस आये और तीन घण्टे भी रुक नहीं सके । घर वालों की आँखों से आँसू बह निकले । नन्हें किशोर पुत्र के माथे पर हाथ फेर, चाचा तथा पिता के चरण स्पर्श करके यह आजादी का दीवाना चल पड़ा । अब वह पहले आजादी का सिपाही था, बाद में पिता-पुत्र तथा और कुछ । उसका कर्तव्य उसे एक रात भी अपने घर नहीं बिता पाने को विवश कर रहा था ।

पं. काशीराम जोशी १८९९ में मेट्रिक पास करके अम्बाला में नौकरी करने लगे थे पर उन्हें इससे सन्तोष नहीं हो सका । वे हाँगकाँग चले गये । हाँगकाँग से वे अमेरिका चले गये । वहाँ ओरेगान स्टेट लकड़ी के व्यापार का केन्द्र थी । ओरेगान स्टेट के पोर्टलेण्ड नगर के समीप सेंट जान नामक कस्बे की एक आरा मिल में ये काम करने लगे । मजदूर से वे मेट बने और प्रगति करते हुए वे लकड़ी के नामी

व्यापारी बन गये । इनका लाखों रुपयों का कारोबार चलने लगा ।

जब उन्होंने पर्याप्त सम्पदा अर्जित कर ली तो उन्हें उसके सुदपयोग की फिक्र हुई । इस सम्पदा को अर्जित करने का प्रयोजन भी उनका यही था कि किसी महत्वपूर्ण कार्य में इसका उपयोग होगा । सम्पत्ति पर साँप बनकर बैठने तथा उसे अपने तथा अपने परिवार तक ही सीमित रखने के छोटे दृष्टिकोण से वे सर्वथा मुक्त थे । उन्हीं दिनों इतिहास प्रसिद्ध क्रान्तिकारी सरदार अजीतसिंह इनके पास पहुँचे । सरदार जी को इनसे कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी । गदर पार्टी को उन्होंने अपना तन-मन-धन सब समर्पित करने की घोषणा कर दी ।

इनका सेंट जान का ठिकाना उसी दिन से राजनैतिक गतिविधियों का केन्द्र बन गया । यहाँ प्रायः देश भक्तों की गोष्ठियाँ होने लगीं । सोहन सिंह मकना, हरनाम सिंह टुण्डी, उद्यम सिंह कसेल, रामरक्खा सड़ोआ आदि व्यक्ति एकत्रित होकर चर्चा करते तथा अपने देश भारत को राजनैतिक दासता से मुक्त कराने की योजनाऐं बनाते ।

पण्डित जी ने अमेरिका में भारत की स्वतंत्रता के लिए सहयोग देने वाले भारतीयों के ऐसे संगठन बनाने आरम्भ कर दिये । इन संगठनों के लिए विदेशों से तथा अमेरिका से प्रकाशित होने वाली पत्र-पत्रिकाओं यथा 'स्वदेश सेवक', 'परदेशी खालसा', 'फ्री हिन्दुस्तान' आदि मँगाते । इन्हें पढ़कर लोगों में देश के प्रति उत्सर्ग के विचार पनपते । जापान से मौलवी बरकतुल्ला का साहित्य तथा योरोप से श्रीमती कामा का साहित्य भी इन्होंने मँगवा कर संगठनों में वितरित किया । इस प्रकार विचार-क्रान्ति का प्रथम अभियान चल पड़ा ।

प्रथम विश्व युद्ध के आसार दिखाई पड़ने लगे थे । अब यह कोई सक्रिय क़दम उठाना चाहते थे । इस स्वर्ण अवसर को हाथ से जाने देने के पक्ष में नहीं थे । भारत में एक सुनियोजित विद्रोह की रूपरेखा इनके मस्तिष्क में चक्कर काट रही थी । इसी का परिणाम गदर पार्टी के रूप में परिलक्षित हुआ । सन् १९१२ में पोर्टलैण्ड में भारतीयों की एक विशाल सभा बुलाई गई । इसमें हिन्दुस्तान एसोसिएशन ऑफ पेसिफिक कोस्ट

नामक संगठन का जन्म हुआ । पण्डित काशी राम को इसका कोषाध्यक्ष चुना गया । मन्त्री बने जी. डी. कुमार तथा अध्यक्ष सोहनसिंह मकना चुने गये ।

संगठन बनने की देर थी कि इसकी शाखाऐं खुलने लगीं । संगठन का काम आँधी-तूफान की गति से प्रगति करने लगा । २५ मार्च १९१३ में लाला हरदयाल पंण्डित जी के निमंत्रण पर सेंट जान आये । उन्होंने पण्डित जी के प्रयत्नों की सराहना की । पंण्डित जी ने अपना सर्वस्व इस संगठन को समर्पित कर दिया था । अधिकांश खर्च पण्डित जी अपनी जेब से देते थे । पिरथी सिंह आजाद का कथन नितान्त सत्य है- "पण्डित जी स्वयं एक गदर पार्टी थे ।"

संघ का पत्र 'गदर'-प्रकाशित होने लगा । सरदार अजीतसिंह तथा सरदार करतारसिंह सरावा उसमें काम करने लगे । पण्डित जी ने इस काम को हाथ में लिया तो पूरे मनोयोग से किया । सन् १९१४ में तो वे गदर पार्टी ही बनकर रह गये थे । उनकी सारी प्रतिभा इसी में नियोजित हो गई । इसी का यह परिणाम था कि अमेरिका के अंचल में बसे छः हजार भारतीयों में से पाँच हजार एक सूत्र में बँध गये ।

जुलाई १९१४ में प्रथम विश्व युद्ध आरम्भ हो गया । गदर पार्टी जिस अवसर की ताक में थी, वह अवसर आ पहुँचा था । गदर पार्टी का अधिवेशन हुआ जिसमें पाँच हजार भारतीय एकत्रित हुए । 'करो या मरो' का निर्णय लिया गया । पार्टी के प्रमुख नेता भारत के लिए रवाना हो गये ।

इन लोगों में अपार जोश था । प्रत्येक व्यक्ति सबसे पहले भारत पहुँचने को उत्सुक था । अंग्रेजी सरकार इन गतिविधियों से बेखबर नहीं थी । न्याय को ताक पर रख कर उसने देश की धरती पर पाँव रखने के पहले ही अधिकांश गदर करने वालों को बन्दरगाहों पर ही बिना किसी अपराध के बन्दी बना लिया । इस गैर कानूनी हरकत का अनुमान तक इन्हें नहीं था । इस कुकृत्य से विश्व राजनीति में अंग्रेजों का मुँह काला हो गया ।

पण्डित काशीराम तथा करतारसिंह सरावा व्यापारी के रूप में प्रथक-प्रथक जहाजों से भारत पहुँचे । इन्हें गिरफ्तार करने में विदेशी शासन सफल न हो सका । भारत आकर इन्होंने देखा कि यहाँ तो सारी योजना ही चौपट हो चुकी है । फिर भी उन्होंने धीरज नहीं छोड़ा । पार्टी के नेताओं का फिर से चुनाव किया गया । अपनी कम आयु के बावजूद भी संगठन कुशलता तथा परिस्थितियों के अनुरूप क्रिया-कलाप अपनाने में चतुर करतारसिंह सरावा को नेता बनाया गया ।

पहला कदम फौजी शस्त्रागार पर कब्जा करने का था । मियाँ मीर तथा फिरोजपुर छावनी के शस्त्रागारों पर अधिकार करने का काम पण्डितजी ने अपने लिए चुना । सभी क्रान्तिकारी २९ नवम्बर को फिरोजपुर नगर के बाहर जलालाबाद वाली सड़क पर एकत्रित हुए । इस दिन जिस व्यक्ति ने शस्त्रास्त्र जुटाने का वादा किया था वह पूरा नहीं कर पाया । इस प्रकार यह काम कुछ दिनों के लिए टाल दिया गया।

सभी व्यक्ति अपने-अपने स्थानों के लिए रवाना हुए । सब लोग ताँगों में सवार थे । शहर के पास पुलिस के एक दस्ते ने इन्हें रोका । सबने अपने को अलग-अलग मुसाफिर बताया । इन्स्पेक्टर ने जाँच करने के लिए एक व्यक्ति के मुँह पर जोरदार थप्पड़ मारा । सब खून का सा घूँट पीकर रह गये पर गाँधसिंह कतरभन्न से न रहा गया । उन्होंने उस इन्सपेक्टर को गोली मार दी । पुलिस में भगदड़ मच गई । दोनों ओर से मोर्चे बाँधकर गोलियाँ चलने लगीं । कई साथी बचकर निकल गये । पुलिस को सहायता मिल गई । सात क्रान्तिकारी बन्दी बना लिए गये । पण्डित जी उनमें से एक थे ।

पण्डित जी सफलता में न तो हर्ष से पागल हो जाते थे और न असफल होने पर सिर धुनने लगते थे । यह धैर्य ही उन्हें इतना बड़ा विद्रोह संचालित करने के लिए तैयार कर सका था । जब वे गिरफ्तार हो गये तो उनके मन में न कोई निराशा उत्पन्न हुई न चेहरे पर उदासी झलकी ।

न्याय और वह भी क्रान्तिकारियों के साथ बरता जाय यह तो

अंग्रेजी शासन की नीति ही नहीं थी । फिर विश्व युद्ध का समय था । न्याय के नाम पर आतंक जमाने की नीति चल रही थी । विद्रोहियों को कड़ी से कड़ी सजा देकर देश प्रेम की भावना को दबा देने के उद्देश्य से इन सातों व्यक्तियों को फाँसी की सजा दी गई ।

सातों अभियुक्तों को सम्राट के विरुद्ध बगावत का अपराधी सिद्ध किया गया । फैसले में पण्डित जी को इस दल का नेता माना गया । इनकी सारी सम्पदा जो लगभग चालीस हजार थी, कुर्क कराने का आदेश दे दिया ।

सब कुछ दाँव पर लगाकर भी निराश नहीं होने वाले पण्डित जी ने यह फैसला बड़े धीरज से सुना । उन्होंने कहा-"मुझे प्रसन्नता है कि अधिक देश सेवा करने का अवसर न सही पर मातृभूमि पर प्राण न्यौछावर करने का सौभाग्य तो मिल ही गया ।" उन्हें फैसले को सुनकर शान्ति मिली । उन्होंने सजा को सहज रूप में स्वीकार किया ।

एक देश भक्त के लिए इससे बड़ा सौभाग्य और हो भी क्या सकता था ? इतना साहस नहीं होता तो वे इस क्षेत्र में उतर ही कैसे सकते थे ? आदर्शवादिता भौतिक दृष्टिकोण से तो घाटे का सौदा ही है । यह जानते हुए भी इस पथ पर चलने वाले चलते हैं तथा भौतिक उपलब्धियों के पीछे भागने वालों की अपेक्षा घाटे में नहीं रहते । इन्हें आत्म सन्तोष का सुख मिलता है तथा जो अपना दृष्टिकोण संकुचित रखते हैं उन्हें जीवन भर इस सच्चे सुख से वंचित रहना पड़ता है तथा उनकी आत्मा सदा उन्हें प्रताड़ित करती रहती है ।

पण्डित जी अपने कार्यों से इतिहास में अमर हो गये । यदि वे जीवन में आदर्शवादिता की ओर उन्मुख नहीं होते तो आज उन्हें कोई जानता तक नहीं । ऐसे कई व्यक्ति जन्मे व मर गये, जिन्हें किसी ने याद नहीं किया, उनके जीवनवृत्त से किसी के मन में, आत्मा में मानवता की सेवा, राष्ट्र देवता की उपासना की ललक उत्पन्न नहीं हुई । मनुष्य जीवन पाकर भी वे उसे सार्थक नहीं कर सके थे । ऐसी भूल विवेकशील

पण्डित जी कैसे कर सकते थे । उन्होंने जिन हाथों से उपार्जन किया उन्हीं से उसका सदुपयोग भी किया ।

ऐसे ही कुशल शिल्पियों ने राष्ट्र मन्दिर के भव्य भवन का निर्माण किया, उसमें राष्ट्र देवता की मूर्ति स्थापित की, उसमें प्राण भरे, जो सदा सर्वदा छोटे-छोटे मनुष्यों को महान देश भक्त बनने की प्रेरणा, प्रकाश व साहस देता रहेगा ।

सर्वस्व समर्पित करने वाले हुतात्मा महावीर सिंह

प्रथम विश्व युद्ध समाप्त होने के बाद भारत में एक भीषण राजनैतिक चेतना की आँधी आई । देश का बच्चा-बच्चा अंग्रेजों के प्रति आक्रोश से भर उठा । विदेशी सरकार की जड़ें हिलने लगीं । गोरा-शासन लँगड़ा उठा तो उसे वैसाखियों का सहारा देने का प्रयास किया गया । विप्लवी जन भावनाऐं उबल कर सरकार के लिए कोई प्रकट अदम्य विद्रोह खड़ा न कर दें, इसलिए स्थान-स्थान पर अमन-सभाएँ कायम की गईं । कमेटियाँ आम सभा आयोजित करतीं, जन सम्पर्क बनातीं और लोगों से शान्त रहने की अपील करती थीं ।

ऐसी ही एक अमन कमेटी की सभा आयोजित हुई उत्तर प्रदेश के (तब संयुक्त प्रान्त) के एटा जनपद की कासगंज तहसील में । इस सभा में तहसील के सभी नागरिकों को बुलाकर एकत्रित किया गया । जो नहीं आना चाहते थे या आने में असमर्थ थे, लाख काम छोड़कर उन्हें सभा में उपस्थित होना पड़ा । कारण था-राजाज्ञा और उसके पालन के लिए सरकारी मशीनरी का दबाव । मन से बेमन से तहसील के सभी बूढ़े, बच्चे, युवा, किशोर, स्त्री-पुरुष सभी सभा में आये । इस सभा में बताया गया कि अंग्रेजी शासन भारत का कितना

शुभ चिन्तक है । एक मात्र अंग्रेज जाति ही ऐसी है जो इस देश का कल्याण कर सकती है और करने में जुटी हुई है ।

जो नासमझ थे उनके गले तो ये बातें उतरती जा रही थीं । राजभक्ति की मन्त्र दीक्षा से दीक्षित ठेठ ग्रामीणों का हृदय अंग्रेजों को अपना भाग्य विधाता अनुभव कर रहा था । हालाँकि ऐसे लोगों की संख्या नगण्य थी । बहुलता ऐसे ही नागरिकों की थी जो अंग्रेजी शासन की वास्तविकता को अच्छी तरह जानते थे और समझते थे कि यह सभा लोगों की भावनाओं को जीतने के लिए नहीं, वरन् उन पर राजशक्ति थोपने के लिए की जा रही है । जी चाहता था बस चले तो अभी इसके संयोजकों का गिरेबान पकड़ कर मंच से खींच लिया जाय । परन्तु राजदण्ड का भय था जो उन्हें अपनी कुढ़न और अभिव्यक्त करने से रोक रहा था । एक अधिकारी ने अपना भाषण समाप्त कर जैसे ही आसन ग्रहण किया, श्रोताओं की भीड़ में से एक किशोर कण्ठ की आवाज आयी-'महात्मा गान्धी की जय' इसके बाद तो वहाँ उपस्थित सभी बच्चों और किशोर युवकों ने नारे लगाए ।

सभा मंच पर जमे हुए वक्ता अधिकारी भौंचक रह गये । आसपास पहरा दे रही पुलिस ने भीड़ में घुस कर उस किशोर को गिरफ्तार कर लिया जिसने सर्व प्रथम महात्मा गाँधी की जय का उद्घोष किया था । इस अपराध में किशोर को आठ-दस बेतें पड़ीं । निर्ममता पूर्वक की गई पिटाई के कारण किशोर बेहाल हो गया । घर लौटा तो पिता ने गर्व से सीना फुलाकर कहा-"मेरे प्यारे बच्चे मुझे तुझ पर नाज है ।"

और इस प्रोत्साहन वाक्य ने बेंत की मार से पड़े नीले निशानों पर जो बुरी तरह जलन उत्पन्न कर रहे थे, ठण्डे मरहम का काम किया । यही किशोर आगे चलकर महान विप्लवी क्रान्तिकारी शहीद महावीर सिंह के नाम से विख्यात हुआ । महावीर सिंह का जन्म १९०४ में एटा जिले की कासगंज तहसील में हुआ था । उनके पिता कुँवर देवीसिंह वैद्यक के द्वारा अपना निर्वाह करते थे ।

कुँवर देवीसिंह अच्छे शिक्षित और जागरूक व्यक्ति होने के कारण

उस समय के देश-काल की परिस्थितियों से अच्छी तरह परिचित थे । उनके हृदय में भी राष्ट्र भक्ति और स्वातन्त्र्य प्रेम की उत्कट लालसा हिलोरें मार रही थी । उन्होंने अपने पुत्र को भी उस मार्ग पर निर्विरोध बढ़ने दिया । सन्धि बेला में ऐसी आत्माऐं जन्म लेती ही हैं जो अपनी सन्तान को पेट-प्रजनन की परिधि-सीमा तोड़कर देश और समाज के लिए कुछ करने को उत्सुक बनाने में प्रयत्नशील रहती हैं । कुँवर देवीसिंह भी ऐसे ही युगीन महामानवों-लोक मंगल के साधकों में से एक थे । उन्होंने अपने पुत्र को तत्कालीन परिस्थितियों के अनुरूप समाज की आवश्यकता समझने तथा उसे पूरी करने में रत होने के लिए प्रशिक्षित किया ।

एटा के राजकीय हाईस्कूल से महावीर सिंह ने मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण की । विद्यार्थी जीवन मे उन्होंने देश भक्ति और स्वाधीनता संग्राम की भूमिका निभाने का भी पाठ पढ़ा । वहाँ भी उनका विद्रोह और स्वाभिमान प्रकट हुए बिना न रहा । उन दिनों जब महावीर सिंह हाईस्कूल के छात्रावास में रह रहे थे एटा में किसी राष्ट्रीय नेता का आगमन हुआ । नेताओं की सभा में लोग उत्साहपूर्वक भाग लिया करते थे । फिर महावीर सिंह जैसे देश भक्त युवक जाने से कब चूकते । उन्होंने अपने कुछ साथियों के साथ सभा में जाने की योजना बनाई । इस योजना की खबर जैसे ही छात्रावास के संरक्षक को मिली तत्काल प्राचार्य का आदेश निकलवा दिया कि उस समय सभी विद्यार्थी छात्रावास में उपस्थित रहें ।

महावीर सिंह को इस आदेश का पता चला तो बड़ा क्रोध आया । उन्होंन जान लिया कि छात्रावास तथा विद्यालय के राजभक्त अधिकारी और कर्मचारी उन्हें सभा में भाग नहीं लेने देना चाहते । विद्रोह और तत्जनित अवज्ञा का भाव यहाँ खुलकर सामने आया । महावीर सिंह ने तो दृढ़ निश्चय कर रखा था कि चाहे जो हो वे सभा में अवश्य जायेंगे । अपने इस निश्चय से उन्होंने आदेश प्रसारित करने वाले चपरासी तथा प्राचार्य को भी अवगत करा दिया । अधिकारियों ने इस पर शक्ति प्रयोग

कर उन्हें रोकने का षडयन्त्र रचा परन्तु सबकी आँख बचाकर वे ऐसे निकले कि किसी को खबर तक नहीं हुई ।

सभा से लौटने पर प्राचार्य ने उन पर अनुशासन हीनता और नियम भंग करने का आरोप लगाकर दण्डित किया । महावीरसिंह ने हर्ष के साथ दण्ड भोगा । उनकी दृष्टि में यह कार्य किंचित भी अनुशासन भंग नहीं था । वस्तुत: वह अनुशासन और प्रतिबन्ध अनुचित ही है जो पालनकर्त्ता को उसके कर्तव्यों से विमुख कर दे । नियम और व्यवस्था का प्रयोजन ही यही है कि उससे बँध कर व्यक्ति अधिकाधिक कुशलतापूर्वक अपने कर्तव्य का पालन कर सके और जब वह व्यवस्था उस प्रयोजन की पूर्ति में अनपेक्षित और औचित्य विरोधी रुकावट पैदा करती है तो उसे तोड़ ही देना चाहिए । इस दण्ड ने महावीर सिंह को विद्रोही छात्रों का नेता बना दिया ।

हाईस्कूल की शिक्षा समाप्त कर वे कानपुर के डी. ए. वी. कालेज में भर्ती हुए । उस समय महात्मा गाँधी द्वारा संचालित प्रथम असहयोग आन्दोलन अंग्रेजों की लाठियों और दमन-षड़यन्त्रों के बीच दब-सा गया था । विद्रोह की भावना क्षण भर के लिए भले ही दबा दी गई हो परन्तु विद्रोह की आग अन्दर ही अन्दर सुलग रही थी । नवयुवकों का गर्म खून दमन और आतंक का प्रत्युत्तर उसी भाषा में देने को कसमसा रहा था ।

ऐसे ही जोश और उत्साह की हवा से डी. ए. वी. कालेज भी अछूता नहीं रह गया था । महावीर सिंह यहाँ उसी हवा के संस्पर्श में आये और उन्होंने क्रान्तिकारी का व्रत धारण कर लिया । कालेज में उन्हें प्रोफेसर मुंशीराम का संरक्षण मिला जिनकी छत्रछाया में वे अपनी गतिविधियाँ चलाते रहे । क्रान्तिकारी युवकों ने तब हिन्दुस्तान समाजवादी गणतंत्र सेना का गुप्त रूप से संगठन किया था । इस सेना में चन्द्रशेखर आजाद, सरदार भगतसिंह, शचीन्द्र सान्याल जैसे विख्यात विप्लवी नेता थे । महावीर सिंह ने इन्हीं की जमात में भर्ती होकर क्रान्ति का लक्ष्य बनाया । कालेज से निकलते ही उन्होंने हिंस सेना की सक्रिय सदस्यता ग्रहण कर ली और चौबीसों घण्टे पार्टी को देने लगे ।

घर से पिताजी का संदेशा आया। महावीर सिंह को जल्दी अपने पास बुलाया था। वे घर गये तो पिताजी ने शादी का प्रस्ताव रखा। उन्हें नहीं पता था कि महावीर सिंह किसी गुप्त संगठन का सदस्य है। वस्तुस्थिति बताकर उन्होंने अपने पिता से कहा-मेरी तो शादी हो चुकी है अपने लक्ष्य से। अब घर गृहस्थी के पचड़े में न पड़कर देश सेवा करने की इच्छा है, जिसके लिए आप इजाजत तो देंगे ही।

आँखों में आँसू भरकर कुंवर देवीसिंह ने कहा-"मुझे बड़ी खुशी है बेटे ! परन्तु मेरी एक बात को याद रखना। देश की सेवा का जो रास्ता तुमने अख्तियार किया है, वह बड़ी तपस्या और कठिनाइयों से भरा है। लेकिन जब तुम उस पर चल ही दिये हो तो पीछे न मुड़ना। साथियों से विश्वासघात न करना और अपने बूढ़े पिता का ख्याल रखना।"

"पिताजी ! आप आशीर्वाद तो दे रहे हैं परन्तु आपकी आँखों से बहती आँसुओं की धारा बता रही है कि कहीं आप मजबूरी के कारण तो यह सब नहीं कर रहे हैं।"-महावीर सिंह ने कहा।

"नहीं बेटा ! नहीं !! ये तो हर्ष के आँसू हैं। जिस काम को करने के लिए मैं जिन्दगी भर सपने देखता रहा, वह तू कर रहा है तो मुझे कोई दुख होगा पगले !" देवीसिंह जी ने कहा और उनके मुँह पर खुशी नाच उठी। दुख था तो सही-अपने बेटे के बिछुड़ने का। लाख कितने ही अच्छे उद्देश्य के लिए अपना पुत्र विदा ले रहा हो परन्तु उस हृदय में जहाँ ममता ही ममता, वात्सल्य ही वात्सल्य और प्यार ही प्यार भरा हो वह भला कैसे मानेगा।

निकट रहने से पिता कहीं और दुःखी न हों इसलिए महावीर सिंह उनकी चरण रज अपने मस्तक से लगाकर चल दिए। चलते-चलते पिता ने उन्हें फिर पुकारा-"बेटा ! तुझे किसी चीज की जरूरत हो और वह मुझसे मिल सके तो संकोच मत करना। यह सब कुछ तेरा है।" मकान और सम्पत्ति की तरफ इशारा करते हुए कुँवर देवीसिंह ने कहा।

"पिताजी ! मेरी तो कोई व्यक्तिगत आवश्यकता-आकांक्षा है

नहीं, मैंने अपना सब कुछ देश को सौंप दिया है । अब तो जो कुछ भी जरूरत होगी सब उसी की ।"

"उसके लिए भी तू यह सब अपना समझना और देश के लिए, अपने साथियों के लिए ही इन सबका उपयोग करना ।"

सर्वस्व समर्पण की दीक्षा लेकर महावीरसिंह ने उस जगह से प्रस्थान किया और पार्टी कार्यालय में जाकर पिता की प्रेरणा से अपने संकल्प की घोषणा की । पार्टी संगठन के लिए उस समय धन की आवश्यकता तो थी ही । वे दल के आदेशानुसार १९२७ में लाहौर गये और वहाँ पर हिन्दुस्तान समाजवादी गणतन्त्र सेना का गठन किया । यह सारा काम उन्होंने छद्मवेश में-मोटर ड्राइवर के रूप में रहकर किया । क्रान्तिकारियों के इस संगठन की सूचना तब तक सरकार को मिल चुकी थी, इसलिए छद्मवेश में रहना आवश्यक था । मोटर ड्राइवर के रूप में उन्होंने बड़े साहसिक कार्य किए । उस समय की व्यवस्था के अनुसार उनका स्वरूप तो गैर कानूनी था, परन्तु क्रान्तिकारियों का लक्ष्य ही तब इसी प्रकार का था-जनता में असन्तोष और प्रशासन में अव्यवस्था फैलाकर अंग्रेजी शासन की नींव कमजोर करना ।

बाद में जब हिन्दुस्तान समाजवादी सेना के सदस्य क्रान्तिकारियों की धर पकड़ आरम्भ हुई तो १९२९ में उन्हें भी गिरफ्तार कर लिया गया । राजद्रोह और अशान्ति फैलाने के कई अभियोग उन पर चलाये गये । यह सब तो महज नाटक ही था । सच बात तो यह थी कि सरकार इस खुले सिंह को स्वतंत्र घूमते देखना पसन्द नहीं करती थी । इसलिए उन्हें लम्बे समय तक कारावास का दण्ड दिया गया । जेल के अधिकारी कैदियों से बड़ा दुर्व्यवहार करते थे । महावीर सिंह ने इसके विरोध में अपने साथियों सहित अनशन किया । उनका अनशन तुड़वाने के लिए प्रलोभन से लेकर बल प्रयोग तक सभी तरीके अजमाये गये परन्तु महावीरसिंह के दृढ़ निश्चयी स्वभाव के सम्मुख एक भी सफल न हो सका । अन्ततः विजय उन्हीं की हुई ।

सन् १९३० की ७ अक्टूबर को उन्हें आजन्म कैद की सजा सुनाई

गई । उन्हें क्रमशः लाहौर मुलतान और मद्रास की जेल में रखा गया । तीन वर्ष तक इस प्रकार स्थान बदल-बदल कर रखने के बाद उन्हें अण्डमान भेज दिया गया । भारत भूमि से आठ सौ मील दूर पोर्ट ब्लेयर का भयावह यन्त्रणा गृह । उसमें सीलन और बदबूदार कोठरी । भोजन के साथ कीड़े और कंकड़ । पत्राचार मुलाकात, समाचार पत्र सब कुछ बन्द । इन नारकीय यातनाओं को बन्द करने के लिए महावीरसिंह ने आमरण अनशन किया । अधिकारीगण तो देश प्रेम में मतवाले इन अपराधियों को निर्जीव वस्तुओं से भी गया गुजरा समझते थे । मानवीय विरोध को पहचानने की क्षमता उनमें कहाँ से आती । उसी प्रकार और उससे अधिक निकृष्ट पशुवत् व्यवहार किया जाता रहा, जिसके परिणामस्वरूप १७ मई १९३३ को उनका देहान्त हो गया । इस अपराजेय महामानव का जीवन युग सैनिकों के लिए भी प्रकाश दीप है ।



मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा (उ.प्र.)